विवेक-ज्योति

वर्ष ३८, अंक ९ सितम्बर २००० मूल्य रु. ५.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (म. प्र.)

भिलाई इस्पात संयंत्र

सर्वश्रेष्ठ से भी अधिक श्रेष्ठता की ओर

"यह जानकर प्रसन्नता हुई कि भिलाई इस्पात संयंत्र ने देश के सर्वश्रेष्ठ कार्यरत एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में वर्ष 1996-97 के लिये प्रधानमंत्री ट्राफी अर्जित की है। भिलाई इस्पात संयंत्र ने पाँच वर्ष में चौथी बार इस ट्राफी को जीता है। इससे संयंत्र के प्रशंसनीय निष्पादन और सर्वोच्च बने रहने के दृढ़ निश्चय की सहज पुनरावृत्ति प्रदर्शित होती है।

सर्वश्रेष्ठता सिर्फ मील का एक पत्थर है, मंजिल नहीं। आज के विश्वव्यापी आर्थिक माहौल में विश्व में सर्वश्रेष्ठ होना ही लक्ष्य होना चाहिये...."

अटल बिहारी बाजपेयी
माननीय प्रधानमंत्री

देश के सर्वश्रेष्ठ एकीकृत इस्पात संयंत्र के रूप में चौथी बार प्रधानमंत्री ट्राफी विजेता

Prime Minister's Trophy
For Best Integrated Steel Plant
1996-97

माननीय प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी, श्री अरविंद पांडे, अध्यक्ष, सेल एवं श्री वि. गुजराल, प्रबंध निदेशक, भिलाई इस्पात संयंत्र को प्रधानमंत्री ट्राफी प्रदान करते हुये।
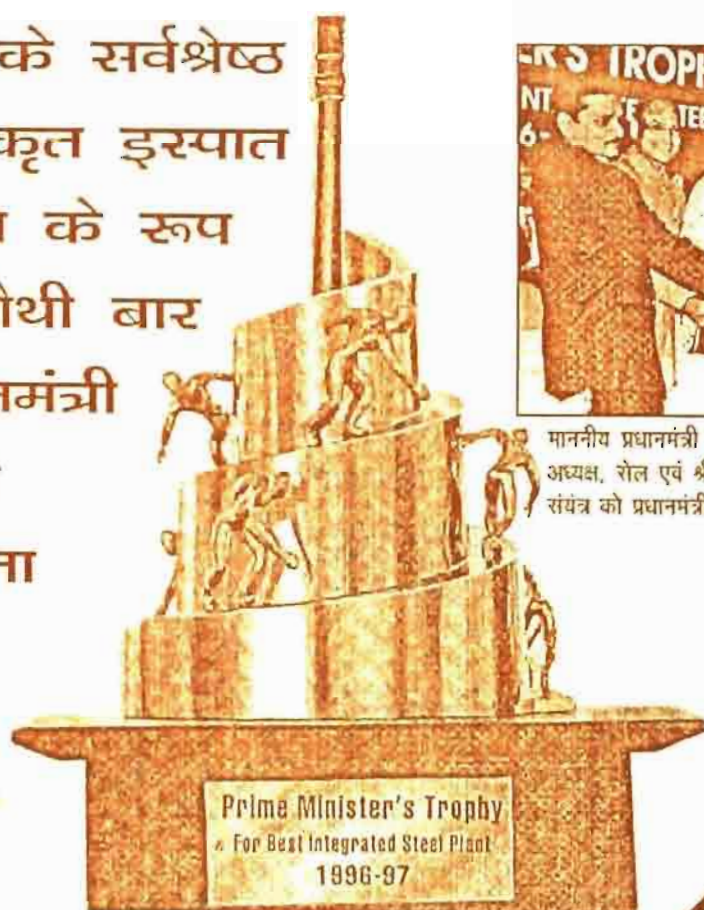
स्टील अथॉरिटी ऑफ इण्डिया लिमिटेड
भिलाई इस्पात संयंत्र

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर, २०००

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ३८

अंक ९

वार्षिक ५०/- एक प्रति ५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – ७००/-

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (म. प्र.)

दूरभाष : २२५२६९, ५४४९५९, २२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण शरणम्

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर - ४९२ ००१ (म. प्र.)

सादर सनम्र निवेदन

आत्मीय बन्धु/भगिनी,

स्वामी विवेकानन्द, अपनी जन्मभूमि कलकत्ता के अतिरिक्त सम्पूर्ण पृथिवी में सबसे अधिक समय तक लगातार रहे हों, ऐसा स्थान है, तो वह है 'रायपुर नगर'। रायपुर में सन् १८७७ से १८७९ में अपनी किशोर अवस्था में स्वामीजी दो वर्ष रहे थे। उन्हीं की पुण्यस्मृति में रायपुर आश्रम का नामकरण रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम किया गया है।

यह आश्रम गत लगभग ४० वर्षों से नर-नारायण की सेवा में समर्पित है। आश्रम में निम्नलिखित सेवा विभाग हैं –

(१) धर्मार्थ औषधालय – नेत्ररोग विभाग, स्त्रीरोग विभाग, दन्तरोग विभाग, शिशुरोग विभाग, एक्स-रे विभाग, मनोरोग विभाग, हृदयरोग विभाग, पैथोलॉजी विभाग, नाक-कान-गला विभाग। (२) फिजियोथेरेपी (३) होमियोपैथी (४) ग्रन्थालय – (अ) विद्यार्थियों के लिये पाठ्य-पुस्तक विभाग (ब) सामान्य ग्रन्थ विभाग (स) पत्र-पत्रिकाओं सहित निःशुल्क वाचनालय (५) विद्यार्थियों के लिये निःशुल्क छात्रावास (६) श्रीरामकृष्ण मन्दिर (७) साधु-सेवा (८) गोशाला (९) स्कूल के गरीब छात्रों हेतु निःशुल्क कोचिंग क्लास।

इन वर्षों में आश्रम की सेवा गतिविधियों में पर्याप्त वृद्धि हो गई, परन्तु उसकी तुलना में आर्थिक अभाव के कारण आश्रम के भवनों आदि का विस्तार नहीं किया जा सका है। इसलिये अब आश्रम के कुछ विभागों में स्थान-विस्तार की नितान्त आवश्यकता है। उसी प्रकार आश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत, रंग-रोगन आदि भी कराने की अत्यन्त आवश्यकता है।

आश्रम में दो प्रकार के सेवक हैं – (१) साधु-ब्रह्मचारी (२) वेतन-भोगी

साधु-ब्रह्मचारियों के भरण-पोषण तथा वेतनभोगी सेवकों के वेतनादि के लिये भी आश्रम को स्थायी कोष की आवश्यकता है। आश्रम के सेवा-कार्यों तथा सेवकों, साधु-ब्रह्मचारियों आदि का भरण-पोषण आप जैसे उदार बन्धु-भगिनियों के दान से ही चलता है।

अतः आपसे सादर अनुरोध है कि निम्नलिखित मदों में उदारतापूर्वक दान देकर अनुगृहीत करें।

बूँद बूँद से ही घड़ा भरता है। आपके द्वारा दिया गया सभी दान हमारे लिये महान है तथा हमारी योजनाओं में परम सहायक होगा।

(१) सत्-साहित्य प्रदर्शन तथा विक्रय विभाग भवन तथा उपकरण (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(२) सेवक निवास भवन तथा उपकरण (सात लाख) ७,००,०००/- रु.

(३) गोशाला निर्माण तथा गोबर गैस संयंत्र आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(४) मन्दिर के सामने मुख्य द्वार का निर्माण तथा द्वार से मन्दिर तक पथ निर्माण (तीन लाख) ३,००,०००/- रु.

(५) पुराने भवनों की मरम्मत तथा रंग-रोगन आदि (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(६) मन्दिर का फूल-उद्यान, जल संसाधन व्यवस्था तथा इनका रख-रखाव एवं विद्युत खर्च (दस लाख) १०,००,०००/- रु.

(७) औषधालय में औषधि आदि का व्यय तथा फिजियोथेरेपि यंत्रों का रख-रखाव, विद्युत व्यय, कर्मचारियों का मानदेय आदि (पच्चीस लाख) २५,००,०००/- रु.

स्थायी कोष के लिये अपेक्षित कुल राशि (रू. एक करोड़ मात्र) १,००,००,०००/- रु.

नर-नारायण की सेवा में आपका सहयोगी,

(स्वामी सत्यरूपानन्द)
सचिव

चेक/ड्राफ्ट कृपया रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के नाम पर लिखें।

रामकृष्ण मिशन को दिये गये दान में ८०जी आयकर अधिनियम के अन्तर्गत छूट मिलती है।

नीति-शतकम्

अधिगत-परमार्थान्पण्डितान्माऽवमंस्था-
स्तृणमिव लघुलक्ष्मीर्नैव तान्संरुणद्धि ।
अभिनवमदलेखा-श्याम-गण्डस्थलानां
न भवति बिसतन्तुर्वारणं वारणानाम् ॥१७॥

अन्वय - अधिगत-परमार्थान् पण्डितान् मा अवमंस्थाः, तृणम् इव लघुलक्ष्मीः तान् नैव संरुणद्धि । विसतन्तुः अभिनव-मदलेखा-श्याम-गण्डस्थलानां वारणानां वारणं न भवति ॥

भावार्थ – क्षुद्र लक्ष्मी तत्त्वज्ञाता विद्वानों को वैसे ही नहीं बाँध सकती, जैसे कि कमलनाल की डोरी मद की धारा से काले गण्डस्थल-वाले हाथियों को बाँधने में समर्थ नहीं है, अतः उनका तिरस्कार मत करो ।

अम्भोजिनी-वन-निवास-विलासमेव
हंसस्य हन्ति नितरां कुपितो विधाता ।
न त्वस्य दुग्ध-जल-भेद-विधौ प्रसिद्धां
वैदग्ध-कीर्तिमपहर्तुमसौ समर्थः ॥१८॥

अन्वय - नितरां कुपितो विधाता हंसस्य अम्भोजिनी-वन-निवास-विलासम् एव हन्ति । तु असौ अस्य दुग्ध-जल-भेद-विधौ प्रसिद्धां वैदग्ध्य-कीर्तिम् अपहर्तुं न समर्थः ॥

भावार्थ – विधाता ब्रह्मा यदि हंस से बड़े कुपित हो जायँ, तो वे उसके कमलिनी-वन में विहार के सुख को छीन सकते हैं, पर वे उसके सुविख्यात दूध तथा जल को अलग करने की क्षमता के यश को छीनने में समर्थ नहीं हैं । तात्पर्य यह कि भौतिक सत्ताधारी राजा ज्ञानियों की बाह्य स्वाधीनता में बाधा डाल सकते हैं, पर उनके तत्त्वज्ञान को हानि नहीं पहुँचा सकते ।

– भर्तृहरि

वन्दना-गीति

– १–

(छायानट-कहरवा)

छवि रामकृष्ण अनुपम ललाम ।
चिर अस्ति-भाति-प्रिय मधुर-चारु,
सच्चिदानन्दमय पूर्णकाम ।।

कंचनसम भास्वर नरकाया, करती है दूर मोह-माया,
नित ध्यान करो निज अन्तर में, ज्योतिर्मय अति नयनाभिराम ।।

वह सुखकर सुन्दर स्तिमित रूप,
नख से शिख तक भासित अनूप,
मुखमण्डल पर जो छटा मधुर,
हो स्मरग उसी का दिवस-याम ।।

वे निराकार आकार सहित, आये जग में करने जनहित,
मिल जाये उनकी कृपादृष्टि, तो जनम-मरण का हो विराम ।।

– २ –

(कलावती-कहरवा)

नवालोक फैला अग-जग में, दूर हुआ अज्ञान अँधार,
पुनः धर्म का राज्य बसाने, आये रामकृष्ण अवतार ।।

जो पुरुषोत्तम राम बने थे, वंशीधारी श्याम बने थे,
धारण करके सात्त्विक काया, जग में प्रगटे फिर इस बार ।।

जड़ जन में चेतना जगाने, साधकगण की साध मिटाने,
लीला की गंगा के तट पर, देखा मुग्ध हुआ संसार ।।

– विदेह

महिलाओं की उन्नति

स्वामी विवेकानन्द

(रामकृष्ण मिशन के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी निर्वेदानन्द जी ने स्वामी विवेकानन्द की अंग्रेजी ग्रंथावली में यत्र-तत्र बिखरे भारत तथा उसकी समस्याओ से सम्बन्धित विचारो का एक संकलन बनाया था । यह संकलन स्वामीजी के भारत-विषयक विचारों को समझने में काफी उपयोगी है और इस कारण अत्यन्त लोकप्रिय भी हुआ है । 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिए भी इसका हिन्दी रूपान्तरण प्रस्तुत किया जा रहा है । – सं.)

हिन्दू नारियों का आदर्श

भारतीय स्त्रियों को जैसा होना चाहिए, सीता उनके लिए आदर्श है । स्त्री-चरित्र के जितने भारतीय आदर्श हैं, वे सब सीता के ही चरित्र से उत्पन्न हुए हैं और समस्त आर्यावर्त भूमि में सहस्रों वर्षों से वे स्त्री-पुरुष-बालक की पूजा पा रही हैं । महा-महिमामयी सीता, स्वयं पवित्रता से भी पवित्र, धैर्य तथा सहिष्णुता का सर्वोच्च आदर्श सीता सदा इसी भाव से पूजी जायेगी । जिन्होंने अविचलित भाव से ऐसे महादुख का जीवन व्यतीत किया, वही नित्य साध्वी, सदा-शुद्ध-स्वभाव सीता, आदर्श पत्नी सीता, मनुष्यलोक की आदर्श, देवलोक की भी आदर्श नारी पुण्यचरित्र सीता सदा हमारी राष्ट्रीय देवी बनी रहेंगी । चाहे हमारे सारे पुराण नष्ट हो जायँ, यहाँ तक कि हमारे वेद भी लुप्त हो जायँ या हमारी संस्कृत भाषा सदा के लिए कालस्रोत में विलुप्त हो जाय, परन्तु मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनो, जब तक भारत में अतिशय ग्राम्य भाषा बोलनेवाले पाँच भी हिन्दू रहेंगे, तब तक सीता की कथा विद्यमान रहेगी । सीता का प्रवेश हमारे राष्ट्र की अस्थि-मज्जा में हो चुका है; प्रत्येक हिन्दू नर-नारी के रक्त में सीता विराजमान है; हम सभी सीता की सन्तान हैं ।

भारतीय और पाश्चात्य आदर्शों में कितना महान् अन्तर है! भारतीय राष्ट्र और समाज के लिए सीता सहिष्णुता की उच्चतम आदर्श की प्रतिरूप हैं । पश्चिम कहता है, "कर्म करो – कर्म द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ ।" भारत कहता है, "सहनशीलता के द्वारा अपनी शक्ति दिखाओ ।" मनुष्य कितने अधिक भौतिक पदार्थों का स्वामी बन सकता है, इस समस्या की पूर्ति पश्चिम ने की है; परन्तु मनुष्य कितना कम रख सकता है – इस प्रश्न का हल भारत ने दिया है । तुम देखते हो – दोनों आदर्श परस्पर विरोधी भावों की चरम सीमा हैं । सीता भारतीय आदर्श – भारतीय भाव की प्रतिनिधि हैं, मूर्तिमती भारतमाता हैं । सीता वास्तव में जन्मी थीं या नहीं, रामायण की कथा किसी ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित है या कपोल-कल्पित – यह हम नही जानते; परन्तु इतना जरूर सत्य है कि सहस्रों वर्षो से सीता का चरित्र भारतीय राष्ट्र का आदर्श रहा है । ऐसी अन्य कोई पौराणिक कथा नहीं है, जिसने सीता के चरित्र की भाँति पूरे राष्ट्र को आच्छादित और प्रभावित किया हो, इसके जीवन में इतनी गहराई तक प्रवेश किया हो, जो जाति की नस नस में, उसके रक्त की हर बूंद में इतनी प्रवाहित हुई हो ।

सीता मूर्तिमान सतीत्व थीं । उन्होंने अपने पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष के शरीर का स्पर्श तक नहीं किया । ... भारत में जो कुछ पवित्र है, विशुद्ध है, जो कुछ पावन है, उन सबका 'सीता' शब्द से बोध हो जाता है । नारी में जो नारी-जनोचित गुण माने गये हैं, 'सीता' शब्द उन सबका परिचायक है । इसलिए जब ब्राह्मण किसी कुलवधू को आशीर्वाद देते हैं, तो कहते हैं – 'सीता बनो' । जब किसी बालिका को आशीष देते हैं, तो कहते हैं – 'सीता बनो' । वे सब सीता की सन्तान हैं – जीवन में उनका एकमेव प्रयत्न यही होता है कि वे सीता बनें – सीता-सी पवित्र, धीर और सर्वसहा, सीता-सी पतिपरायणा और पतिव्रता बनें । जीवन में सीता ने इतने कष्ट सहे, इतनी वेदनाएँ सहीं, परन्तु राम के विरुद्ध उनके मुख से एक कठोर शब्द तक न निकला । वे उसे अपना कर्तव्य जानकर करती रहती हैं । सीता के निर्वासन के घोर अन्याय पर विचार करो । पर सीता ने उसे भी सह लिया – उनके हृदय में लेशमात्र भी कटुता उत्पन्न नहीं हुई । यही तितिक्षा ही भारतीय आदर्श है । सीता भारतीय आदर्श की सच्ची प्रतिनिधि हैं । अत्याचारों के प्रतिशोध का विचार तक उनके हृदय में नहीं आया ।

मैं जानता हूँ कि जिस जाति ने सीता को उत्पन्न किया है – चाहे उसने इसकी कल्पना ही क्यों न की हो – नारी के प्रति उसका आदर पृथ्वी पर अद्वितीय है । पश्चिमी नारी के कन्धों पर कानूनी दृढ़ता से बँधे हुए बहुत-से बोझ हैं, जिनका हमारी नारियों को पता भी नहीं है । निश्चय ही हमारे अपने दोष हैं और अपने अपवाद हैं, परन्तु उसी प्रकार उनके भी हैं । हमें यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि संसार भर में सबका प्रयत्न यह रहा है कि प्रेम, दया तथा ईमानदारी को अभिव्यक्ति दी जाय, और यह भी कि इस अभिव्यक्ति के लिए निकटतम माध्यम राष्ट्रीय रीति-रिवाज है । जहाँ तक घरेलू गुणों का सम्बन्ध है, मुझे यह कहने में तनिक भी झिझक नहीं है कि हमारे भारतीय रीति-रिवाज बहुत-सी बातो में अन्य सभी से अच्छे हैं ।

यह वही देश है, जहाँ सीता और सावित्री का जन्म हुआ था। पुण्यक्षेत्र भारत में अभी तक स्त्रियों में जैसा चरित्र, सेवाभाव, स्नेह, दया, तुष्टि और भक्ति पायी जाती है, पृथ्वी पर ऐसा अन्यत्र कहीं नहीं है। पाश्चात्य देशों में स्त्रियों को देखने पर कुछ देर तक तो यही समझ में नहीं आता था कि वे स्त्रियाँ हैं; वे देखने में ठीक पुरुषों के समान हैं – ट्रामगाड़ी चलाती हैं, दफ्तर जाती हैं, स्कूल जाती हैं, प्रोफेसरी करती हैं! एकमात्र भारत में ही स्त्रियों में लज्जा, विनय आदि गुण देखकर नेत्रों को शान्ति मिलती है।

हमारी नारियों को आधुनिक भावों में रँगने की जो चेष्टाएँ हो रही हैं, यदि इनके द्वारा उन्हें सीता-चरित्र के आदर्श से भ्रष्ट करने का प्रयास होगा, तो जैसा कि हम प्रतिदिन देख रहे हैं, वे सब असफल होंगे। भारतीय नारियों से सीता के चरण-चिह्नों का अनुसरण कराकर उनकी उन्नति की चेष्टा करनी होगी, यही एकमात्र पथ है।

उनकी प्राचीन तथा आधुनिक सामाजिक अवस्था

हमें यूरोपीय आलोचना की अचानक आयी हुई बाढ़ और उसके कारण अपने में उत्पन्न हुई अन्तर की भावना के वशीभूत होकर अपनी नारियों की असमानता के विचार को स्वीकार करने में अत्यधिक शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। परिस्थितियों ने हमारे लिए अनेक शताब्दियों से नारी की रक्षा की आवश्यकता को अनिवार्य बनाया है। हमारे इस रिवाज का कारण इसी तथ्य में है, न कि नारी की हीनता में। ... क्या वनो में स्थित हमारे पुरातन विश्वविद्यालयों में लड़कों और लड़कियों की समानता से अधिक पूर्ण कुछ और हो सकता है? हमारे संस्कृत नाटकों को पढ़िए, शकुन्तला की कहानी पढ़िए और देखिए कि टेनिसन की 'प्रिन्सेज' क्या हमें कुछ सिखा सकती है?

मलाबार देश (केरल) में स्त्रियाँ सभी विषयों में अग्रणी हैं। वहाँ सर्वत्र ही विशेष रूप से स्वच्छता की ओर दृष्टि रखी जाती है और विद्याचर्चा में भी विशेष उत्साह है। मैं जब उस प्रदेश में गया, तब मैंने वहाँ ऐसी अनेक स्त्रियों को देखा, जो उत्तम संस्कृत बोल सकती थीं, परन्तु भारत में अन्यत्र दस लाख में भी एक स्त्री संस्कृत नहीं बोल सकती। स्वाधीनता में उन्नति होती है, किन्तु दासता से तो अवनति ही होती है। पुर्तगीज या मुसलमान कभी भी मलाबार को जीत नहीं पाये।

नारी के आर्य और सेमेटिक आदर्श सदा ही एक-दूसरे के बिल्कुल विपरीत रहे हैं। सेमेटिक लोगों में नारी की उपस्थिति भक्ति में बाधक मानी गयी है और वहाँ वह किसी धार्मिक कृत्य में भाग नहीं लेती, परन्तु आर्य लोगों के अनुसार पुरुष अपनी पत्नी के बिना कोई भी धार्मिक कृत्य नही कर सकता।

परब्रह्म-तत्त्व में लिंगभेद नहीं है। हमें 'मैं-तुम' की भूमि पर लिंगभेद दिखाई देता है। फिर मन जितना ही अन्तर्मुख होता जाता है, उतना ही वह भेदज्ञान लुप्त होता जाता है। अन्त में, जब मन एकरस ब्रह्म-तत्त्व में डूब जाता है, तब फिर यह स्त्री, वह पुरुष – आदि का ज्ञान बिल्कुल नहीं रह जाता। हमने श्रीरामकृष्ण में यह भाव प्रत्यक्ष देखा है। इसीलिए मैं कहता हूँ कि स्त्री-पुरुषों में बाह्य भेद रहने पर भी स्वरूप में कोई भेद नहीं है। अत: यदि पुरुष ब्रह्मज्ञ बन सके, तो स्त्रियाँ क्यों नहीं ब्रह्मज्ञ बन सकेंगी?

किस शास्त्र में ऐसी बात है कि स्त्रियाँ ज्ञान-भक्ति की अधिकारिणी नहीं होंगी? भारत का अध:पतन उसी दिन से शुरू हुआ, जब ब्राह्मण पण्डितों ने ब्राह्मणेतर जातियों को वेदपाठ का अनधिकारी घोषित किया और साथ ही स्त्रियों के भी सारे अधिकार छीन लिए। ... आधुनिक हिन्दू धर्म अधिकतर पौराणिक है अर्थात् बुद्ध के बाद उत्पन्न हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि यद्यपि गार्हपत्य अग्नि में आहुति प्रदानरूप वैदिक अनुष्ठान के लिए पत्नी नितान्त आवश्यक है; पर वह शालग्राम शिला अथवा घर के देवी-देवताओं की मूर्ति छू नहीं सकती, क्योंकि वे परवर्ती पुराण-काल की उत्पत्ति हैं। ... नहीं तो, वैदिक युग में, उपनिषद् युग में मैत्रेयी, गार्गी आदि प्रात:स्मरणीय स्त्रियाँ ब्रह्मविचार में ऋषितुल्य हो गयी हैं। हजार वेदज्ञ ब्राह्मणों की सभा में गार्गी ने ब्रह्मज्ञान पर शास्त्रार्थ के लिए गर्व के साथ याज्ञवल्क्य का आह्वान किया था।

उनकी उन्नति – एक चरम आवश्यकता

जब इन सब आदर्श विदुषी स्त्रियों को उस समय अध्यात्म ज्ञान का अधिकार था, तो फिर आज भी स्त्रियों को वह अधिकार क्यों न रहेगा? एक बार जो हुआ है, वह फिर जरूर हो सकता है। इतिहास की पुनरावृत्ति हुआ करती है।

तुम लोग स्त्रियों की निन्दा ही करते हो; परन्तु उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया है, बोलो तो? स्मृति आदि लिखकर, नियम-नीति में आबद्ध करके इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को एकदम बच्चा जनने की मशीन बना डाला है। ... अब तक उन्होंने केवल असहाय अवस्था में दूसरों पर आश्रित होकर जीवन-यापन करना और थोड़े-से भी अनिष्ट या संकट की आशंका होने पर आँसू बहाना ही सिखा है।

स्त्रियों की पूजा करके ही सभी जातियाँ बड़ी बनी हैं। जिस देश या जाति में स्त्रियों की पूजा नहीं होती, वह देश या जाति न कभी बड़ी बनी है और न कभी बन सकेगी। तुम्हारी जाति का जो इतना अध:पतन हुआ, उसका प्रधान कारण है इन शक्ति-मूर्तियों का अपमान करना। मनु (३/५६) ने कहा है –

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ।।

– "जहाँ स्त्रियो का आदर होता है, वहाँ देवता प्रसन्न होते हैं और जहाँ उनका सम्मान नहीं होता, वहाँ समस्त कार्य और प्रयत्न असफल हो जाते हैं ।" जहाँ पर स्त्रियों का सम्मान नहीं होता, वे दुखी रहती है; उस परिवार की, उस देश की उन्नति की आशा नही की जा सकती ।

क्या तुम जानते हो कि 'शाक्त' शब्द का अर्थ क्या है? जो ईश्वर को समग्र जगत् मे महशक्ति के रूप में जानता है और जो स्त्रियो मे इस शक्ति का प्रकाश मानता है वही शाक्त है । ... क्या तुम अपने देश की महिलाओ की अवस्था सुधार सकते हो? तभी तुम्हारे कुशल की आशा की जा सकती है, नहीं तो तुम ऐसे ही पिछड़े पड़े रहोगे । ... सर्वप्रथम वर्तमान दशा से स्त्रियो का उद्धार करना होगा, सर्व-साधारण को जगाना होगा, तभी तो भारत का कल्याण होगा । ... स्त्रियाँ जब शिक्षित होंगी, तभी उनकी सन्तानों द्वारा देश का गौरव बढ़ेगा और देश में विद्या, ज्ञान, शक्ति, भक्ति जाग उठेगी ।

उनकी समस्याओं का हल

यदि तुम लोगों में से कोई यह कहने का साहस करे कि मैं अमुक स्त्री अथवा अमुक बालक की मुक्ति के लिए काम करूँगा, तो यह गलत है, हजार बार गलत है । मुझसे बारम्बार पूछा जाता है कि विधवाओं की समस्या के बारे में और स्त्रियों के विषय में आप क्या सोचते हैं? मैं इस प्रश्न का अन्तिम उत्तर यह देता हूँ, "क्या मैं विधवा हूँ, जो तुम मुझसे ऐसा निरर्थक प्रश्न पूछ रहे हो? क्या मैं स्त्री हूँ, जो तुम बारम्बार मुझसे यही बात पूछते हो? स्त्री-जाति के प्रश्न को हल करने के लिए आगे बढ़नेवाले तुम हो कौन? क्या तुम प्रत्येक विधवा और प्रत्येक स्त्री के भाग्यविधाता भगवान हो? दूर रहो! अपनी समस्याओं का समाधान वे स्वयं कर लेंगी ।

मेरा मत यह है कि सब देशों में समाज अपने आप बनता है । इसी कारण बाल-विवाह उठा देना या विधवा-विवाह आदि विषयों पर सिर खपाना व्यर्थ है । हमारा यह कर्तव्य है कि हम समाज के स्त्री-पुरुषो को शिक्षा दें । इससे फल यह होगा कि वे स्वयं अपने भले-बुरे को समझेंगे और स्वयं ही बुरे को छोड़ देंगे । तब किसी को इन विषयों पर समाज का खण्डन या मण्डन नही करना पड़ेगा । ...हमारा हस्तक्षेप करने का अधिकार केवल शिक्षा का प्रचार करने तक ही सीमित है । हमे नारियो को ऐसी स्थिति में पहुँचा देना चाहिए, जहाँ वे अपनी समस्या को अपने ढंग से स्वयं सुलझा सके । उनके लिए यह काम न अन्य कोई कर सकता है और न किसी को करना ही चाहिए । और हमारी भारतीय नारियाँ विश्व की अन्य किन्ही भी नारियों की भाँति ही इसे करने की क्षमता रखती हैं ।

उनकी समस्याओं के हल हेतु शिक्षा की आवश्यकता

ऐसे योग्य आधार के प्रस्तुत होने पर भी तुम उनकी उन्नति न कर सके! उनको ज्ञानरूपी ज्योति दिखाने का कोई प्रबन्ध नहीं किया गया! उचित रीति से शिक्षा पाने पर ये संसार की आदर्श स्त्रियाँ बन सकती हैं । ... निश्चय ही उनकी समस्याएँ बहुत-सी और गम्भीर हैं, परन्तु उनमें से एक भी ऐसी नहीं हैं, जो जादू-भरे 'शिक्षा' शब्द से हल न की जा सकती हों ।

अब स्त्री-शिक्षा कैसी हो? प्रथम तो – हिन्दू स्त्री के लिए सतीत्व का अर्थ समझना सरल ही है, क्योंकि यह उसकी विरासत है, परम्परागत सम्पत्ति है । इसलिए सर्वप्रथम यह ज्वलन्त आदर्श भारतीय नारी के हृदय में सर्वोपरि रहे, जिससे वे इतनी दृढ़चरित्र बन जायँ कि चाहे विवाहित हों या कुमारी, जीवन की हर अवस्था में, अपने सतीत्व से तिल भर भी डिगने की अपेक्षा, निडर होकर जीवन की आहुति दे दें । अपने आदर्श की रक्षा के लिए अपने जीवन की भी बलि दे देना – यह क्या कम वीरता है?

उन्हें इतिहास तथा पुराण, धर्म, शिल्प, विज्ञान, गृहकार्य, भोजन बनाना, सिलाई, शरीर-पालन आदि सब विषयों की मोटी मोटी बातें सिखलाना उचित है । नाटक और उपन्यास तो उनके पास फटकने ही नहीं चाहिए । केवल पूजा-पद्धति सिखलाने से ही काम न बनेगा । सब विषयों में उनकी आँखें खोल देनी होगी । सर्वदा आदर्श नारी-चरित्र को छात्राओं के समक्ष रखकर उनमें त्यागरूप व्रत के प्रति अनुराग पैदा कराना होगा । सीता, सावित्री, दमयन्ती, लीलावती, खना, मीराबाई आदि के जीवन-चरित्र कुमारियों का समझाकर उनको अपना जीवन वैसा बनाने का उपदेश देना होगा । ... दूसरी बातों के साथ साथ उन्हें बहादुर भी बनना चाहिए । आज के जमाने में उनके लिए आत्मरक्षा सीखना भी बहुत जरूरी हो गया है । देखो, झाँसी की रानी कैसी महान् थीं! इस प्रकार की शिक्षा प्राप्त होने पर स्त्रियाँ अपनी समस्याएँ स्वयं ही हल कर लेगी ।

कुमारियों को धर्मपरायण और नीतिपरायण बनाना होगा; वही करना होगा, जिससे वे भविष्य में अच्छी गृहिणियाँ हों । इन कन्याओं से जो सन्तानें उत्पन्न होंगी, वे इन विषयों में और भी उन्नति कर सकेंगी । जिनकी माताएँ शिक्षित तथा नीतिपरायण हैं, उन्हीं के घर में महान् लोग जन्म लेते हैं ।

आज के युग की आवश्यकताएँ देखते हुए मुझे तो यह आवश्यक प्रतीत होता है कि कुछ महिलाएँ संन्यस्त जीवन के आदर्शों का पालन करने के लिए शिक्षित की जायँ, ताकि वे आजन्म कौमार्य-व्रत धारण करें । आदि काल से जिनकी नस नस में सतीत्व भरा है, उन भारतीय महिलाओं के लिए इसमें

कोई कठिनाई नहीं है । साथ-ही-साथ, महिलाओं को विज्ञान तथा अन्य विषय सिखाये जायँ, जिनसे कि न केवल उनका, बल्कि अन्य लोगों का भी भला हो । यह जानकर कि परोपकार के लिए यह करना है, भारतीय नारी प्रसन्नता तथा सरलतापूर्वक कोई भी विषय सीख लेगी । हमारी मातृभूमि के उत्थान के लिए आज उसे ऐसी ही पुण्यसंकल्प, पवित्रत्मा ब्रह्मचारिणियों की आवश्यकता है ।

उनके आचरण तथा सर्वसाधारण के लिए राष्ट्रीय आदर्श उपस्थित करने के उनके प्रयत्नों से, लोगों के विचारों और आशा-आकांक्षाओं में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आयेगा । आज क्या स्थिति है? चाहे नौ वर्ष की हो या दस वर्ष की, माँ-बाप, येन-केन-प्रकारेण अपनी कन्या का विवाह निपटा देना चाहते हैं । और यदि तेरह वर्ष की अवस्था में ही उसको सन्तान हो जाती है, तो समूचे परिवार में महोत्सव का अवसर आ जाता है! यदि इन विचारों का प्रवाह बदल दिया जाय, तभी पुरातन श्रद्धा के पुनरागमन की कुछ आशा हो सकती है । और जो ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन यापन करेंगी, उनका तो कहना ही क्या – उनमें स्वयं में कितनी महान् श्रद्धा और कितना विश्वास होगा! और उनसे कितना हित और कल्याण होगा!

इस प्रकार हम भारत की आवश्यकता के लिए महान् निर्भीक नारियाँ तैयार करेंगे – नारियाँ जो संघमित्रा, लीला, अहल्याबाई और मीराबाई की परम्पराओं को जारी रख सकें – नारियाँ जो वीरों की माताएँ होने के योग्य हों, इसलिए कि वे पवित्र तथा आत्मत्यागी हैं और उस शक्ति से शक्तिशाली है, जो भगवान के चरण छूने से आती है ।

मेरी योजना

महामाया जगदम्बा की साकार विग्रह रूप नारियों का रूप-रसात्मक बाह्य विकास मनुष्य को पागल बनाये रखता है, उन्ही का ज्ञान-भक्ति-विवेक-वैराग्यात्मक अन्तर्विकास मनुष्य को सर्वज्ञ, सिद्धसंकल्प और ब्रह्मज्ञ बना देता है । **सैषा प्रसन्ना वरदा नृणां भवति मुक्तये** – "प्रसन्न होने पर वे वर देनेवाली तथा मनुष्यों की मुक्ति का कारण होती हैं ।" इन महामाया को पूजा, प्रणाम द्वारा प्रसन्न न कर सकने पर क्या मजाल है कि ब्रह्मा, विष्णु तक उनके पंजे से छूटकर मुक्त हो जायँ? गृह-लक्ष्मियों की पूजा हेतु, उनमें ब्रह्मविद्या के विकास के निमित्त मैं उनके लिए एक मठ बनवाऊँगा ।

स्त्री-मठ में लड़कियों का एक स्कूल रहेगा । उसमें धर्मशास्त्र, साहित्य, संस्कृत, व्याकरण और साथ ही थोड़ी-बहुत अंग्रेजी भी सिखायी जायेगी । सिलाई का काम, रसोई बनाना, घर-गृहस्थी के सारे नियम तथा शिशुपालन आदि मोटे मोटे विषयों की शिक्षा भी दी जायगी । साथ ही जप, ध्यान, पूजा – ये सब तो शिक्षा के अंग रहेंगे ही । स्त्रियाँ घर छोड़कर हमेशा के लिए यही रह सकेंगी, उनके भोजन-वस्त्र का प्रबन्ध मठ की ओर से किया जायगा । जो ऐसा नहीं कर सकेंगी, वे इस मठ में दिवा-छात्राओं के रूप में आकर अध्ययन कर सकेगी । यदि सम्भव हुआ, तो मठाध्यक्ष की अनुमति से वे यहाँ पर रहेंगी और जितने दिन रहेंगी, भोजन भी पा सकेंगी । स्त्रियों से ब्रह्मचर्य का पालन कराने के लिए बृद्धा ब्रह्मचारिणियाँ छात्राओं की शिक्षा का भार लेंगी । इस मठ में ५-७ वर्ष तक शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त लड़कियों के अभिभावक उनका विवाह कर सकेंगे । यदि कोई अधिकारिणी समझी जायगी, तो अपने अभिभावकों की सम्मति लेकर वह वहाँ चिर-कौमार्य व्रत का पालन करती हुई ठहर सकेगी । जो बालिकाएँ चिर-कौमार्य व्रत का अवलम्बन करेंगी, वे ही समय पर मठ की शिक्षिकाएँ तथा प्रचारिकाएँ बन जायँगी और गाँव गाँव तथा नगर नगर मे शिक्षा-केन्द्र खोलकर स्त्रियों की शिक्षा के विस्तार का प्रयास करेंगी । चरित्रवती एवं धर्मभावापन्न प्रचारिकाओं द्वारा देश में यथार्थ स्त्री-शिक्षा का प्रसार होगा ।

वे जितने दिन स्त्री-मठ के सम्पर्क में रहेंगी, उतने दिन ब्रह्मचर्य की रक्षा करना इस मठ का अनिवार्य नियम होगा । धर्मपरायणता, त्याग तथा संयम यहाँ की छात्राओं के अलंकार होंगे और सेवा-धर्म उनके जीवन का व्रत होगा । इस प्रकार के आदर्श जीवन को देखकर कौन उनका सम्मान नहीं करेगा? और कौन उन पर अविश्वास करेगा? देश की स्त्रियों का जीवन इस प्रकार गठित हो जाने पर ही तो तुम्हारे देश में सीता, सावित्री, गार्गी का फिर से आविर्भाव हो सकेगा?

❖ (क्रमशः) ❖

श्रीरामकृष्ण-वचनामृत-प्रसंग

(अस्सीवाँ प्रवचन – पूर्वार्ध)

स्वामी भूतेशानन्द

(रामकृष्ण संघ के भूतपूर्व महाध्यक्ष स्वामी भूतेशानन्द जी महाराज ने पहले बेलूड़ मठ में और तदुपरान्त रामकृष्ण योगोद्यान, कलकत्ता में 'कथामृत' पर बँगला में जो धारावाहिक प्रवचन दिये थे, वे संकलित होकर सात भागों में प्रकाशित हुए हैं। इनकी उपादेयता को देखते हुए हम भी इन्हें धारावाहिक रूप से प्रकाशित कर रहे हैं। अनुवादक श्री राजेन्द्र तिवारी सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में अध्यापक हैं। – सं.)

'देवी चौधरानी' पर श्रीरामकृष्ण के विचार

ठाकुर के मन में विभिन्न लोगों के धर्मविषयक विचारों को जानने की तीव्र उत्कण्ठा थी। इसीलिए जब उन्होंने सुना कि बंकिमचन्द्र के 'देवी चौधरानी' उपन्यास में निष्काम कर्म की बातें हैं, तो उन्होंने उसे सुनने की इच्छा व्यक्त की, ताकि वे समझ सकें कि लेखक का मनोभाव तथा विचारधारा किस स्तर का है।

पाठ आरम्भ हुआ। ठाकुर बीच बीच में अपना मत भी व्यक्त करते जा रहे हैं। यह सुनकर कि भवानी पाठक दुष्टों का दमन तथा शिष्टों का पालन करते हैं, वे कह उठे, "यह तो राजा का काम है।" अर्थात् यदि सभी लोग राजा का काम करने लगें, तो फिर समाज में विशृंखला उत्पन्न हो जायगी। यदि कोई केन्द्रीय शक्ति सबका प्रतिनिधि बनकर इस कार्य का भार ग्रहण करे, तभी यह ठीक ठीक सम्पन्न होगा। इसके बाद प्रफुल्ल की साधना का प्रसंग आया। भवानी पाठक प्रफुल्ल को क्रम से शिक्षा दे रहे हैं। पहले शास्त्रीय चर्चा, उसके बाद व्याकरण, फिर रघुवंश-कुमार-शाकुन्तल आदि काव्य-नाटक, इसके उपरान्त थोड़ा सांख्य-वेदान्त और न्याय पढ़ाया गया। यहाँ तक सुनकर ही ठाकुर बोले, "इसका मतलब यह है कि बिना पढ़े ज्ञान नहीं होता है।" लेखक का मत यह है कि पहले पढ़ना-लिखना, फिर ईश्वर हैं; ईश्वर को जानने के लिए पढ़ना-लिखना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु ठाकुर के मतानुसार यह आवश्यक नही है। यदि भगवान को जान लिया जाय, तो जो कुछ जानने की आवश्यकता है, वे स्वयं ही बोध करा देंगे। उनकी दृष्टि में यही सीधा मार्ग है।

इसके बाद निष्काम कर्म की बात आयी। गीता के उद्धरण सुनकर ठाकुर कहते हैं, "यह अच्छा है। गीता की बात है। अकाट्य है। परन्तु एक बात है। (यहाँ) श्रीकृष्ण को फलार्पण कर देने के लिए कहा, परन्तु उन पर भक्ति करने की बात तो नहीं कही।" श्रीरामकृष्ण के मतानुसार यह अपूर्णता है, क्योंकि श्रीकृष्ण के प्रति हृदय की पूर्ण भक्ति रहने पर समर्पण अपने आप हो जाता है।

इसके बाद बताया गया है कि धन का उपयोग कैसे किया जाय। जब उन्होंने सुना कि प्रफुल्ल धन का कुछ भाग श्रीकृष्ण-बोध से गरीबों में बाँटेगी और उसका कुछ अंश अपने स्वयं के जीवन-धारण के लिए बचाकर रखेगी। ठाकुर इस पर हँसते हुए कहते हैं, "हाँ, यह इनकी हिसाबी बुद्धि है। जो ईश्वर को चाहता है, वह एकदम कूद पड़ता है। देहरक्षा के लिए इतना रहे, यह हिसाब नहीं आता।" इसके बाद भक्तों के लक्षण विषयक गीता के श्लोकों का पाठ होने पर ठाकुर ने कहा, "ये उत्तम भक्त के लक्षण हैं।" इसके बाद जब ठाकुर ने लेखक का यह वक्तव्य सुना कि साज-सजावट के लिये 'कभी कभी कुछ दुकानदारी की आवश्यकता होती है' – तो वे नाराज होकर कहने लगे, "जैसा आधार है बात भी वैसी ही निकलती है। 'दुकानदारी' न कहकर वही बात अच्छे ढंग से भी कही जा सकती है; वह कह सकता था, 'अपने को अकर्ता समझकर कर्ता की भाँति कार्य करना'।" जो भगवान का भक्त है, जो समस्त जीवों में उन्हीं की सेवा कर रहा है, उसे भला दुकानदारी क्यों करनी होगी? इसके अतिरिक्त साज-सजावट की क्या आवश्यकता है? ठाकुर की दृष्टि में इन सबकी कोई जरूरत नहीं।

इसी प्रसंग में वे कहते हैं, "एक आदमी के गाने के भीतर 'लाभ' और 'घाटा' – इन्हीं बातों की भरमार थी। मैंने मना किया। आदमी दिन-रात जो सोचा करता है, मुँह से वही बातें निकलती रहती हैं।"

असल बात यह है कि भाव शुद्ध होना चाहिए। भाव शुद्ध होने पर भाषा में भी शुद्धि आती है, नहीं तो भीतर की अशुद्धि निकल पड़ती है और भाव की असंगति पकड़ में आ जाती है। ठाकुर को जहाँ जो भी असंगति देखने में आती है, वे उसे अल्प शब्दों में प्रकट करते हैं, ज्यादा कुछ नहीं कहते। बोलने की कला में वे बड़े निपुण थे। यहाँ तक कि बंकिमचन्द्र जैसे महान् लेखक तथा विचारक की गल्तियों को भी वे बता दे रहे हैं। फिर जहाँ कुछ अच्छा मिलता है, उसकी भी खुले दिल से प्रशंसा करते हैं। वे सर्वत्र सबसे स्पष्ट रूप से बोलते थे, चाहे कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति हो या साधारण, उन्हें भाषा को घुमा-फिराकर सुन्दर तथा रुचिकर बनाकर बोलने की आदत नहीं थी। यहाँ पर उन्होंने जो मत व्यक्त किये, उन्हें वे बंकिमचन्द्र के उपस्थित रहने पर भी निःसंकोच बोल देते, बोले भी थे। फटकार सुनकर बंकिम ने अपना बचाव करते हुए – हम लोगों के यहाँ भी धर्मचर्चा होती है, कीर्तन होता

है । ठाकुर का इतना सरल स्वभाव था कि वे जिसे सत्य समझते, उसे स्पष्ट रूप से बोल देते; जैसा कि उन्होंने कृष्णकिशोर से कहा था – जिस मन को निराकार मे लगाने का प्रयास कर रहे हो, वही फिर टैक्स की अदायगी के लिए लोटा-थाली बिक्री हो जाने की चिन्ता कर रहा है, क्योंकि वहाँ विचार के साथ कार्य का मेल नही था । श्रीरामकृष्ण मन और मुख की एकता के एक अपूर्व उदाहरण थे ।

मनुष्य की ईश्वर-बुद्धि से पूजा

उपन्यास में एक स्थान पर लिखा है, "ईश्वर मन के निकट प्रत्यक्ष होते हैं ।" सुनते ही ठाकुर बोले, "जिस मन के निकट वे प्रत्यक्ष होते हैं, वह यह मन नहीं । वह शुद्ध मन है । विषय-आसक्ति के जरा भी रहने पर नहीं होता ।" मनुष्य की ईश्वर-बुद्धि से पूजा क्या सम्भव है?

इसके बाद योग की बात आयी । ईश्वर को प्रत्यक्ष करने के लिए ज्ञान, भक्ति अथवा कर्मरूपी दुरबीन के माध्यम से देखना पड़ता है – यह सुनकर ठाकुर बोले, "यह बड़ी अच्छी बात है ।" इसके बाद पति से भेंट होने पर देवी कहती है – मैं दूसरे देवता की पूजा करना सीख नही सकी, तुमने सब देवताओं का स्थान अधिकृत कर लिया है । ठाकुर कहते हैं, "इसे पतिव्रता का धर्म कहते है । यह भी एक मार्ग है । प्रतिमा मे तो ईश्वर की पूजा होती है, फिर जीते-जागते आदमी में क्यों नही होगी?" परन्तु लगता है उनके मन में थोड़ी द्विधा है, खूब उत्साह के साथ नही कह रहे है । इसका कारण यह है कि मनुष्य के भीतर ईश्वर-दर्शन सहज बात नहीं है । प्रतिमा में जब हम ईश्वर-दर्शन करते है, तब हम सारे ईश्वरीय भाव ईश्वर पर आरोपित कर देते है, अन्य अपूर्णताओ की ओर उतना ध्यान नही देते । प्रतिमा को हम लोग जड़ नही सोचते, बल्कि ईश्वर के रूप मे देखते हैं । परन्तु मनुष्य के भीतर दोष-गुण रहते है, जिनकी पूरी तौर से उपेक्षा करके केवल उसके देवत्व को ही देखना आसान नही है । सामान्य व्यक्ति के लिए यह बड़ा ही कठिन है । तो भी कहते हैं कि भक्ति का बल रहने पर, साधना करते करते मन शुद्ध हो जाने पर ही इस प्रकार का दर्शन हो सकता है । केवल शुद्ध सत्ता के भीतर नही, बल्कि भले-बुरे सभी मनुष्यों के भीतर भगवान को अनुभव कर सकनेवाले ही श्रेष्ठ भक्त होते हैं । सर्वभूतों में, सर्वरूपो में वे ही हैं, सब उन्ही की लीला है – जब मनुष्य इस दृष्टि से देखता है तब उसके मन में भले-बुरे का पार्थक्य नहीं रह जाता । सामान्य लोगों की ऐसी अवस्था नहीं होती ।

शास्त्र में है कि प्रारम्भिक अवस्था में भक्त प्रतिमा में पूजा करता है । पूजा करते करते जब उसके मन के भीतर भगवान का भाव घनीभूत हो जाता है, तब वह प्रतिमा के भीतर उस भाव को सीमित नहीं रख सकता । भागवत में तीन तरह के भक्तो की बात कही गयी है । उनमें से जो अभी प्रारम्भिक अवस्था में हैं अर्थात् ऐसे अपरिमार्जित मनवाले लोग, जिनकी बुद्धि अभी शुद्ध नही हुई है, वे श्रद्धापूर्वक प्रतिमा में उनकी पूजा करते हैं । वे लोग भी भक्त है, परन्तु उनके मन:शुद्धि की मात्रा कम है । वे भगवान को प्रतिमा में सीमित करते देखते है । उसके बाद जब वे मध्यम श्रेणी के भक्त में परिणत हो जाते है, तब देखते हैं कि भगवान केवल प्रतिमा के भीतर ही नही, जीव के भीतर तथा उसके स्वयं के भीतर भी हैं । दृष्टि में परिवर्तन आ जाने के कारण ही वे उन्हें केवल प्रतिमा में ही नहीं, बल्कि देखते हैं कि प्रत्येक भक्त के हृदय में उनका निवास है । इस प्रकार उनकी दृष्टि प्रसारित हो जाने के बावजूद अब भी सर्वग्राही नही हुई है । बाद मे वे उन्नति करके श्रेष्ठ भक्त हो जाते हैं, तब वे उन्हें सर्वभूतों में देखते हैं । सर्वभूतो मे अर्थात् चेतन-जड़ सभी में –

सर्वभूतेषु य: पश्येद्-भगवद्भावमात्मन: ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम:।।

भागवत, ११/२/४५

अपने भीतर जो आत्मा है, उसी को जो सर्वभूतों के भीतर भी देखते है और सर्वभूतो को भी ब्रह्मरूप आधार मे देखते हैं, वे ही भगवद्-भक्तों में श्रेष्ठ हैं । उस भक्त के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा गया है –

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन् ।
सरित्समुद्रांश्च हरे: शरीरं
यत् किंच भूतं प्रणमेदनन्य: ।। वही, ११/२/४१

– "आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ग्रह-नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्षादि, नदी, समुद्र – ये सभी भगवान के शरीर हैं । इन सबको अनन्य भाव से प्रणाम करना चाहिए ।" भक्त सर्वत्र भगवान की सत्ता का अनुभव करते हैं, सबको भगवान के शरीर के रूप में देखते हैं । भागवत के मतानुसार जगत् तथा भगवान की अभिन्नता का बोध ही श्रेष्ठ भक्त का लक्षण है ।

यहाँ पर ठाकुर कहते हैं, "वे आदमी होकर भी लीलाएँ कर रहे हैं । मैं तो साक्षात् नारायण को देखता हूँ । जैसे काठ को घिसने से आग निकल पड़ती है, वैसे ही भक्ति का बल रहने पर आदमी मे भी ईश्वर के दर्शन होते हैं ।" मनुष्य की विभिन्न अपूर्णताओ के बावजूद उसमें ईश्वर-दर्शन – केवल भलों में ही नहीं, बुरों में भी भगवान को देखना, सामान्य लोगों के लिए सम्भव नहीं है । उच्च कोटि के कुछ विरल साधक ही देख पाते है कि वे सभी प्रकार के समस्त भूतों में विराजमान हैं; जैसे वे भलों में है, वैसे ही बुरों मे भी हैं । सब कुछ उनकी लीला के रूप में देखने के कारण उनके लिए

भले-बुरे का पार्थक्य दूर हो जाता है । यह अवस्था सामान्य लोगो को नहीं होती ।

ठाकुर जो कहते हैं, "जीते-जागते आदमी में क्या उनकी पूजा नही हो सकती?" – होती है । परन्तु समस्या यह है कि शुद्ध आधार में विभूति जैसी व्यक्त होती है, वैसी अशुद्ध आधार मे नही होती । ठाकुर कहते हैं – प्रतिमा सुन्दर होनी चाहिए । प्रतिमा सुन्दर होने पर उसमें सहज ही ईश्वर का दर्शन किया जाता है, कुरूप होने पर ऐसा नहीं होता है । इसी प्रकार जिस मनुष्य में हम ईश्वर-बोध करेंगे, वह मनुष्य यदि सात्त्विक हो, तो उसमे ईश्वर-बोध करना आसान हो जाता है, परन्तु यह भी साधना की अपेक्षा रखता है । साधना करते करते मन शुद्ध हो जाने पर भले-बुरे का पार्थक्य दूर हो जाता है और तभी सर्वत्र भगवान को देखा जा सकता है ।

ठाकुर और भी कहते हैं, "परन्तु एक बात है – उन्हें बिना देखे, इस तरह लीला-दर्शन नही होता ।" अर्थात् ईश्वर का दर्शन हुए बिना मनुष्य को ईश्वर के रूप में नहीं देखा जा सकता । उनका साक्षात्कार होना चाहिए । "साक्षात्कार का लक्षण जानते हो? देखनेवाले का स्वभाव बालक जैसा हो जाता है । बालस्वभाव क्यों होता है? इसलिए कि ईश्वर स्वयं बालस्वभाव हैं । अतएव जिसे उनके दर्शन होते हैं, वह भी उसी स्वभाव का हो जाता है ।"

ईश्वर बालक-स्वभाव क्यों हैं? नहीं होते तो उन्हें इस विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि-स्थिति-लय करने की क्या जरूरत है । छोटा बच्चा मन के मौज में बालू का घर बनाता है और फिर स्वयं ही तोड़ डालता है, ठीक वैसे ही भगवान भी बिना किसी प्रयोजन के इस जगत् की सृष्टि करते हैं, इसका पालन करते है और फिर तोड़ डालते हैं । कहा जा सकता है कि उनकी इस लीला का उद्देश्य आनन्द-प्राप्ति है, जैसा कि उपनिषद् में कहा है – **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । (तैत्ति. उ. ३/६)** – आनन्द से ये समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने के बाद आनन्द के द्वारा वर्धित होते हैं और अन्त में आनन्द में ही लौट जाते है । इस आनन्द को ही ब्रह्म कहा गया है – **आनन्दरूपं ब्रह्म यद्विभाति** ।

परन्तु यह आनन्द साधारण विषयों का आनन्द नहीं है । वे आनन्द-स्वरूप हैं और उनके आनन्द से जगत् की उत्पत्ति होती है – इसका क्या तात्पर्य है? जगत् न होने पर क्या उनमे आनन्द की कमी थी, जो उन्हें यह ब्रह्माण्डरूपी खिलौना बनाकर खेलना पड़ रहा है? ऐसा ही यदि हो, तो वे आत्माराम कैसे हुए? जिनका आत्मा में ही आनन्द है, जो आत्मा में ही सन्तुष्ट हैं, उन्हें बाह्य उपकरण बनाने की क्या जरूरत है? कोई जरूरत नहीं । जरूरत न होने पर भी कर रहे हैं, इसीलिए कहा गया – 'बालक का स्वभाव' । शास्त्र में इसे लीला कहा गया है । इस लीला शब्द को समझाने के लिए 'लोकवत्' कहा गया । जैसे जगत् में बालक खेल खेलने को घर बनाता है; उस घर में वह रहता नहीं, कोई आवश्यकता नहीं, कोई उद्देश्य नहीं, तो भी बनाता है; इससे उसके आनन्द की अभिव्यक्ति होती है । भगवान को आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए क्या ऐसे संसार की रचना करने की जरूरत पड़ी थी? उसका कोई उत्तर नहीं है । किसी ने सम्भवत: पद्मलोचन से पूछा था – भगवान की सृष्टि किसने की? उन्होंने उत्तर दिया था – जिस कमेटी में इसे पास किया गया था, उसमें मैं उपस्थित नही था अर्थात् यह बात मेरी बुद्धि के परे है । यह समझ पाना हमारे लिए असम्भव है कि भगवान का उद्देश्य क्या है । जब हम समझ नहीं पाते कि क्यों करते हैं, तो कहते हैं कि यह उनकी लीला है । भक्त लोग इसे प्रेम की दृष्टि से देखते हैं, जानने का प्रयास नहीं करते, वे इसके भीतर उन्हीं को लेकर आनन्द मनाना चाहते हैं । और जो लोग जानने का प्रयास करनेवाले ज्ञानी हैं, उनका कहना है – तुम देख रहे हो कि उन्होंने सृष्टि की है, परन्तु सृष्टि कहाँ है? इसकी तो कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है । वे कहते हैं – **आप्तकामस्य का स्पृहा** – जो परिपूर्ण हैं, उन्हें भला इच्छा कैसे होगी, इच्छा तो अपूर्ण को होती है । अत: जब हम 'भगवान की इच्छा से इस जगत् की सृष्टि हुई है' – इस बात को बुद्धि के द्वारा समझने का प्रयास करते हैं, तो बुद्धि इसे प्रमाणित नहीं कर पाती । तथापि यदि हम जगत् का विश्लेषण करें, विचार करें, तो करते करते हम उन जगत्स्वामी तक पहुँच सकते हैं, जिनकी अभिव्यक्ति यह जगत् है । इसीलिए जगत् की आवश्यकता है । माण्डुक्य कारिका (३/१५) में कहा है –

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ।।

जगत् किसी प्रकार से भी नही है, स्थूल रूप में या सूक्ष्म रूप में नहीं है, कार्य रूप तथा कारण रूप में भी नहीं है – किसी भी रूप में नहीं है – **नास्ति भेदः कथञ्चन** । जगत् के रूप में हम जो कुछ देख रहे हैं, वह ब्रह्म के सिवाय और कुछ नहीं है, इस तत्त्व को समझाने के लिए ये ही उपाय हैं – **उपायः सोऽवताराय** । इसे समझाने के लिए तरह तरह के दृष्टान्त देते हुए सृष्टि की बात कही गयी है – **यथा सोम्य एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्** – जैसे मिट्टी के एक ढेले को जान लेने से मिट्टी के समस्त कार्यो का समझा जा सकता है । (छा. उ. ६/१/४) **यथा सोम्य एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातं स्यात्** – जैसे एक स्वर्णपिण्ड को जान लेने से स्वर्ण के परिणामभूत सब कुछ जाना जा

सकता है। (छा. ६/१/५) एक दृष्टान्त और दिया गया है –

यथा सुदिप्तात्पवकाद्विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः ।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ।। (मु. उ. २/१/१)

– वह अक्षर (ब्रह्म) ही पारमार्थिक सत्य है। जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि से उसी की सजातीय चिनगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही इस अक्षर से विभिन्न प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं।

मिट्टी, स्वर्ण, अग्नि आदि के दृष्टान्तों द्वारा क्या यह सिद्ध हुआ कि जगत् की रचना वास्तव में हुई है? नहीं सिद्ध हुआ। क्योंकि इस युक्ति के भीतर विरोध है, जिनका खण्डन नहीं किया जा सकता। अत: अन्त में कहते हैं कि ये सत्य नहीं हैं और ये दृष्टान्त तो केवल तत्त्व को समझने के लिए हैं, इसके अतिरिक्त इनका अन्य कोई तात्पर्य नहीं है।

यह जो कहा गया कि उसका कोई रूप ही नहीं है, तो ऐसी वस्तु को हम जानेंगे कैसे? वे यह नहीं हैं, वह नहीं हैं – आदि कहकर जब सब कुछ हटा दिया गया, तो फिर बचा ही क्या? तब समझाने के लिए कहा गया कि जिस जगत् को तुम देख रहे हो, उसका रचना-कौशल ऐसा है कि इसकी अपने आप सृष्टि नहीं हो सकती। इसके पीछे नियन्ता न रहने पर ऐसी रचना कैसे हो पाती? इसके पीछे कोई बुद्धि कार्य कर रही है। यह बुद्धि किसकी है? हम लोगों की नहीं है, क्योंकि हम लोग जगत् के अन्तर्गत हैं, अत: हमारी बुद्धि के द्वारा इस जगत् का निर्माण नहीं हुआ। तो फिर यह जगत् एक ऐसी सत्ता के द्वारा रचित हुआ, जो जगत् के अतीत हैं। उन जगत् के अतीत सत्ता तक पहुँचने के लिए ही यह जगत् है। इसी के लिए तत्त्वचर्चा भी की जाती है। शास्त्र में कहा है – **तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्या पृथिवी। (तैत्ति. उ. २/१/३)** – उस आत्मा से आकाश उत्पन्न होता है, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से यह पृथ्वी। अर्थात् उस परम सूक्ष्म वस्तु से धीरे धीरे स्थूल वस्तु उत्पन्न हुआ।

एक अन्य स्थान पर कहा गया कि उन्होंने तीन चीजें बनाईं – तेज (अग्नि), अप् (जल) तथा अन्न (पृथ्वी)। इसके पहले पाँच तत्त्व बताये गये थे। तो इनमें से कौन-सा ठीक है? इस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि एक स्थान पर जिन तीन तत्त्वों से सृष्टि की बात कही गई है, उसी के विस्तारण के रूप में अन्यत्र पाँच तत्त्वों का उल्लेख किया गया है। अथवा उनमें से कोई भी ठीक नहीं है। बातों में इतना पार्थक्य का अर्थ है कि इसका कोई तात्पर्य नहीं है, यह दृष्टान्त मात्र है।

जैसा कि ठाकुर कहते हैं कि काला-पानी जाने पर जहाज फिर लौटकर नहीं आता। यह एक कहावत मात्र है, वास्तविकता नहीं। समझाने के लिए कहा गया है कि तत्त्व में पहुँचने पर फिर जगत् का भ्रम नहीं होगा। 'उनसे जगत् की सृष्टि' कहने का तात्पर्य केवल यह समझना है कि उन्हें छोड़कर यह जगत् अन्य कुछ भी नहीं है; जिसे 'किण्डर-गार्टन' कहते हैं, यह उसी पद्धति से समझाना है।

कोई समझा रहे थे कि ब्रह्म सर्वत्र विराजमान हैं, परन्तु श्रोतागण समझ नहीं पा रहे थे। तब वक्ता न कहा कि एक सिकोरे में पानी ले आओ। पानी आ जाने के बाद उन्होंने उसमें सेंधा नमक की एक डली डाल देने को कहा। इसके बाद उन्होंने कहा कि इसे रख दो, अब कल बातचीत होगी। अगले दिन उन्होंने वह पानी भरा हुआ सिकोरा ले आने को कहा। उसके आ जाने के बाद बोले – अब इसमें सेंधा नमक को ढूँढ़ो। उसमें हाथ डालकर चारों तरफ ढूँढ़ने पर भी नमक की डली नहीं मिली। वह बोला – इसमें तो कहीं नहीं मिल रहा है। उन्होंने क़हा – ऊपर से थोड़ा-सा पानी उठाकर चखने के बाद बताओ कि उसका स्वाद कैसा है? – नमकीन है। – बगल से देखो, कैसा है? – नमकीन लगता है। – बिल्कुल नीचे से निकालकर देखो, कैसा है? – नमकीन लगता है। – यह जो नमकरूपी वस्तु, जिसे तुम देख नहीं पा रहे हो, तथापि चख पा रहे हो; इसी प्रकार इस विश्व-ब्रह्माण्ड में भी वे प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते, परन्तु उनका स्वाद सर्वत्र विद्यमान हैं। जो उनका आस्वादन कर सकता है, वह परम तत्त्व की उपलब्धि कर सकता है।

अब जब हम नरलीला के प्रसंग पर आते हैं, तो कहते हैं कि हम दुष्ट लोगों में भला कैसे भगवान की कल्पना करेंगे? इसका उदाहरण हमें ठाकुर के जीवन में देखने को मिला है। वे शराबियों को देखकर समाधिस्थ हो जाते हैं। और भी अनेक दृष्टान्त हैं। यह कैसे सम्भव है? हम लोग शराबी को शराबी के रूप में देखते हैं, परन्तु वे शराबी के आनन्द को आनन्द-स्वरूप की अभिव्यक्ति मात्र के रूप में देखते हैं। वे विकृति के नहीं, बल्कि वह जिनकी अभिव्यक्ति है, उन्हें देखते हैं और देखकर समाधिस्थ हो जाते हैं। मनुष्य में जब यह दृष्टि आ जाती है, तब उसमें भले-बुरे का भेद नहीं रह जाता।

❖ (क्रमशः) ❖

मानस-रोगों से मुक्ति (४/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(हमारे आश्रम द्वारा आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती समारोह के अवसरों पर पण्डितजी ने 'मानस-रोग' पर कुल ४५ प्रवचन दिये थे । प्रस्तुत अनुलेखन चालीसवें प्रवचन का पूर्वार्ध है । टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराजेन्द्र तिवारी ने किया है, जो सम्प्रति श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर में प्राध्यापक है । – सं.)

कागभुशुण्डि जी मानस-रोगों के लिए जो चिकित्सा-पद्धति प्रस्तुत करते हैं, उसका प्रारम्भ वे भगवान राम की कृपा से करते हैं । वे कहते हैं कि अगर ऐसा संयोग बन जाय, तो भगवान राम की कृपा से सारे रोग नष्ट हो जाते हैं ।

रामकृपा नासहिं सब रोगा ।
जो एहि भाँति बनै संयोगा ।।

इस पंक्ति में कृपा शब्द की बड़ी मधुर व्याख्या की गई है । वैसे तो 'कृपा' बड़ा प्रिय लगनेवाला शब्द है, किन्तु इसका स्वरूप इतना व्यापक है कि स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि कृपा का अर्थ क्या है? भगवान के स्वरूप तथा स्वभाव के सन्दर्भ में विचारकों और चिन्तकों में बड़ा मतभेद दिखाई देता है । पहले तो यही एक विवाद है कि भगवान की सत्ता है या नहीं । कुछ लोगों में उनकी सत्ता को ही लेकर विवाद दिखाई देता है । कुछ लोग यदि ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करते हैं, तो कुछ लोगों की दृष्टि में ईश्वर की सत्ता प्रामाणिक नहीं है । यदि ईश्वर है, तो वह साकार है या निराकार? ईश्वर का स्वरूप क्या है? कुछ लोगों का आग्रह है कि ईश्वर निराकार है, तो उतनी ही तीव्रता से कुछ लोगों का आग्रह है कि ईश्वर साकार है । अब यदि ईश्वर की साकारता को भी स्वीकार कर लें, तो व्यक्ति के मन में यह जिज्ञासा होती है कि ईश्वर का रूप क्या है? रूप की स्वीकृति के बाद प्रश्न उठता है कि उसका स्वभाव कैसा है? ईश्वर यदि निराकार है, तब तो उसके स्वभाव का उतना प्रश्न नहीं हैं, पर साकार ईश्वर का तो कोई न कोई स्वभाव होगा ही । ये प्रश्न बड़े विवादस्पद हैं । गोस्वामी जी ने उनका एक व्यापक स्वरूप 'मानस' में प्रस्तुत किया है ।

इस सन्दर्भ में भगवान श्रीरामकृष्णदेव का स्मरण हो आता है । उनके जीवन-काल में भी साकार-निराकार के स्वरूप-स्वभाव आदि के विषय में विविध प्रकार के मतभेद दिखाई देते हैं । ईश्वर का बड़ा ही समग्र स्वरूप तथा परिचय उनके जीवन और वाणी में परिलक्षित होता है । जब मैं 'मानस' को पढ़ता हूँ और श्रीरामकृष्ण की वाणी और जीवन पर दृष्टि जाती है, तो लगता है कि उनका समग्र जीवन और 'मानस' का दर्शन – वस्तुतः दोनों एक ही हैं । 'मानस' में इस प्रश्न पर अलग अलग प्रसंगों में दृष्टि डाली गई है । जहाँ तक ईश्वर की सत्ता की स्वीकृति का सम्बन्ध है, उसको सबसे पहले हम इस रूप में कह सकते हैं कि दो प्रकार से ईश्वर की आवश्यकता का प्रश्न जीवन में उठता है । एक तो मनुष्य के जीवन में उसकी आवश्यकता का अनुभव हो या फिर केवल उसे जानने की जिज्ञासा हो – ये दो प्रकार के व्यक्ति दिखाई देते हैं ।

और जिन लोगों के जीवन में ईश्वर की जरूरत नहीं है; वे यदि ईश्वर की सत्ता पर विचार न करें, तो यह कोई बहुत झगड़े या विवाद की बात नहीं है । इसे यदि इस दृष्टि से देखें कि जैसे किसी देश में राष्ट्रपति होता है और राष्ट्र का एक संविधान होता है । राष्ट्रपति को जानना या उनसे मिलना या परिचय होना अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है । जिसका राष्ट्रपति से परिचय है या निकट का सम्बन्ध है, उस व्यक्ति के मन में एक बड़े गौरव की अनुभूति होती है कि राष्ट्रपति उसके अपने हैं । लेकिन सभी व्यक्ति तो राष्ट्रपति से व्यक्तिगत रूप से परिचित, उनके निकट सम्बन्धी या मित्र नहीं होते । ऐसे व्यक्तियों के लिए राष्ट्रपति को जानना आवश्यक नहीं है और न जानने से कोई विशेष फर्क भी नहीं पड़ता, लेकिन राष्ट्र का जो संविधान है, उसे तो जानना ही पड़ेगा । तात्पर्य यह है कि राष्ट्र का जो नियम बना हुआ है, जिस संविधान के आधार पर आपका देश चल रहा है, उन नियमों को यदि आप ठीक ठीक जानते हैं और उसका ठीक ठीक पालन करते हैं, तो राष्ट्रपति से परिचय न होने पर भी आपके सामने कोई बहुत बड़ी समस्या नहीं आती । इसी क्रम का वर्णन हमारे शास्त्रों में और 'मानस' में भी किया गया है ।

हमारे यहाँ कोई कोई महापुरुष ऐसे भी हैं, जिन्होंने ईश्वर पर अधिक विचार नहीं किया और उनका नाम हमारे सामने बड़े विचारक और महापुरुष के रूप में आता है । जब उनसे यह पूछा गया कि आप ईश्वर के विवाद पर विचार क्यों नहीं करते, तो उन्होंने कहा कि यह जो कर्मशास्त्र हैं, जिसका एक नाम मीमांसा-शास्त्र भी है, वह है संविधान और शास्त्रों की मान्यता है कि वह ईश्वर का विधान है, ईश्वर का बनाया हुआ नियम है । ऐसी परिस्थिति में व्यक्ति अगर ईश्वरीय नियम का पालन करे और ईश्वर को न भी जाने तो क्या हर्ज है? श्रीमद् भागवत में एक बड़ा प्रसिद्ध वाक्य आता है । भगवान श्रीकृष्ण एक विशेष सन्दर्भ में कहते हैं – भाई, ईश्वर के सम्बन्ध में

कोई बात है, तो अन्त में यही मानना पड़ेगा कि ईश्वर भी तो संविधान के नियमों का ही पालन करेगा। **अस्तिचेत् ईश्वरः कोऽपि** – यदि ईश्वर है, तो वह भी व्यक्ति के कर्म का ही फल देगा। 'मानस' में भी इस ओर ध्यान आकृष्ट किया है। प्रारम्भ मे हम इसे यों भी कह सकते हैं – अच्छा ठीक है, एक क्षण के लिए हम ईश्वर पर विचार न करें, पर ईश्वर के विधान पर तो विचार करें। गोस्वामी जी ने इसके लिए एक सूत्र दिया। उन्होंने कहा – भाई, सृष्टि का जो नियमन हो रहा है, उसमें प्रत्यक्ष रूप से तो ईश्वर का कोई हस्तक्षेप होता दिखाई नहीं देता। अब प्रश्न यह है कि यह सृष्टि किस आधार पर चल रही है? जैसे देश में व्यवस्था होती है, उस पर राष्ट्रपति स्वयं हस्तक्षेप नही करता, पर विधान के अनुसार सारे राष्ट्र के संचालन की व्यवस्था बनी रहती है; वैसे ही इस ब्रह्माण्ड में ईश्वर का एक संविधान है। उस संविधान का स्वरूप क्या है, इसको गोस्वामी जी एक सूत्र के रूप में कहते हैं –

करम प्रधान बिस्व करि राखा।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा।। २/२१९/४

यह सृष्टि कर्म के द्वारा संचालित हो रही है। व्यक्ति जैसे कर्म करता है वैसे फल पाता है। यह भी एक सिद्धान्त है। इसे यदि हम प्रारम्भ में स्वीकार कर ले और इसका ठीक ठीक प्रयोग करें, तो यह भी एक लाभ है। हमारा आचरण संविधान के अनुकूल हो, यह एक बहुत अच्छी बात है। ईश्वर ने जिस कर्म-सिद्धान्त का निर्माण किया है, उसका यदि हम अपने जीवन मे ठीक ठीक पालन करें, तो यह भी अपने आप में एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। किन्तु प्रत्येक व्यक्ति को इतने से ही सन्तोष नही होता। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि व्यक्ति साधारणतया जितनी आवश्यकता होती है, उतने से ही वह सन्तुष्ट नहीं है। व्यक्ति के जीवन मे साधारणतया अन्न, वस्त्र, द्रव्य आदि की आवश्यकता होती है और उसके लिए व्यक्ति प्रयत्न करता हुआ दिखाई देता है। लेकिन मनुष्य यह जो अन्तरिक्ष की यात्रा करता है, नक्षत्रों की खोज करता है, यह सब वह क्यो करता है? यह तो उसके जीवन की अनिवार्य आवश्यकता नही है। इसकी खोज यदि मनुष्य न करे, उसके बारे में न जाने, तो साधारणतया उसके जीवन में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। लेकिन व्यक्ति के जीवन में आवश्यकताओं के साथ साथ उसके अन्तःकरण में एक ऐसी जिज्ञासा जुड़ी हुई है, इस सृष्टि के मूल को जानने की एक ऐसी तीव्र अभिलाषा है कि उसे केवल इस अन्न-वस्त्र-द्रव्य को पाकर सन्तोष नही होता। वह इस सृष्टि के रहस्यों को जानने के लिए अन्तरिक्ष की यात्रा करता है और विज्ञान के द्वारा उसके मूल तत्त्व को जानने की चेष्टा करता है। जो लोग सृष्टि के संचालन से सन्तुष्ट है, वे रहें, पर जिनके मस्तिष्क में इस सृष्टि के संचालन को देखकर यह जिज्ञासा उठती है कि इस इतने विशाल ब्रह्माण्ड का निर्माता कौन है, संचालक कौन है? यह है उस मूल तत्त्व को जानने की जिज्ञासा।

हनुमान जी के जीवन में इसका एक सांकेतिक प्रसंग आता है। वह वर्णन बड़ा विचित्र-सा है। हनुमान जी ने जब जन्म लिया, तो जन्म लेते ही उन्हें बड़ी तीव्र भूख लगी। लेकिन इसके बाद की भाषा बड़ी सांकेतिक है। उन्होंने सूर्य को ही फल समझकर अपने मुख में ले लिया। हनुमान जी तो साक्षात् शंकर के अवतार हैं। वे महान तत्त्वज्ञ – **ज्ञानिनाम् अग्रगण्यम्** हैं। क्या उन्हें सूर्य और फल में कोई भेद नहीं दिखाई दिया होगा? इसका सांकेतिक अभिप्राय यही है कि हनुमान जी की भूख कोई साधारण बालकोंवाली भूख नहीं थी। साधारण बालकों की भूख तो माँ के दूध से शान्त हो जाती है, बालक को शहद भी चटा दिया जाता है। पर हनुमान जी की भूख तो सूर्य से ही शान्त हो सकती थी। इसकी संगति आगे चलकर हनुमान जी के चरित्र मे मिलती है। हनुमान जी ने सूर्य को गुरु के रूप मे वरण किया। उनके सम्मुख रहकर उनसे समस्त शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की। इसका मूल तत्त्व क्या है? भूख से सूर्य को मुख में ले लेने का क्या तात्पर्य है? सूर्य को फल समझ लेना हनुमान जी की भ्रान्ति नहीं थी। यह तो सच्चे अर्थों में तो उनकी ज्ञान की भूख थी। सूर्य प्रकाश है। इसका अभिप्राय है कि जीवन में ज्ञान के परम प्रकाश के साक्षात्कार की भूख ही हनुमान जी की भूख है और उसी बुभुक्षा को शान्त करने के लिए वे सूर्य को अपने मुख में धारण कर लेते हैं। इसका एक दूसरा पक्ष भी है – हनुमान जी का यह कार्य इन्द्र जैसे व्यक्तियो को उल्टा प्रतीत होता है। इन्द्र का पक्ष भोग का पक्ष है। पुराणों की मान्यता है कि जो अपने जीवन में सौ अश्वमेध यज्ञ पूरा कर लेता है, वही व्यक्ति कभी-न-कभी इन्द्र का पद प्राप्त करता है। इसका अभिप्राय है कि भोग ही जिसके जीवन का लक्ष्य है, जो अमृत पीकर और अप्सराओं का नृत्य देखकर ही सन्तुष्ट रहता है, उस इन्द्र को हनुमान जी के सम्बन्ध मे भ्रान्ति हो जाती है। इन्द्र के द्वारा हनुमान जी पर प्रहार का क्या अर्थ है? यह दो अलग अलग दर्शन है। इन्द्र पुण्य और भोग के रूप में सामने आते है। संसार में सबसे बड़ा भोग स्वर्ग मे है और स्वर्ग में भी इन्द्र सबसे बड़ा भोगी है। इसीलिए भोगी की उपमा इन्द्र से दी जाती है। रावण निरन्तर सैकड़ो इन्द्रो के समान भोग-विलास करता रहा –

सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ विलास। ६/१०

दूसरी ओर वे हनुमान जी के लिए कहते हैं –

प्रबल वैराग्य दारुण प्रभंजन-तनय। विनय. ५८

हनुमान जी प्रबल वैराग्य हैं। इस प्रकार एक ओर भोग है और दूसरी ओर वैराग्य। इसे दोनों अर्थों में ले सकते हैं। भूख

लगने पर मिष्टान्न, फल आदि खाया जाता है या सूर्य को? देह की भूख तो फल-मिष्टान्न से मिटेगी और भोगी का जीवन तो देह तक ही सीमित है, पर वैराग्यवान जानता है कि इन वस्तुओं से तो केवल देह की भूख मिटेगी, लेकिन प्रकाश या ज्ञान अर्थात् सत्य को जानने की भूख को शान्त करने के लिए तो सूर्य को ही अपने भीतर धारण करना होगा। हनुमान जी के जीवन मे सूर्य को मुख में रख लेने का संकेत आता है, इसका अर्थ यह है कि सूर्य प्रकाश या ज्ञान है और हनुमान जी प्रकाश के उपासक हैं। वे सूर्य को गुरु के रूप मे वरण करते है, सूर्य से सारा तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

जिन लोगों के जीवन मे केवल भौतिक भोगों की आकांक्षा है, उनके लिए ईश्वर का सन्दर्भ उतना महत्वपूर्ण नही है, जितनी कि कर्म के सम्बन्ध में उनकी जिज्ञासा। लेकिन इससे आगे बढ़कर जिसके जीवन में यह जिज्ञासा है कि सृष्टि के मूल मे कौन है, उसे ईश्वर की खोज किये बिना सन्तोष नही होगा।

हनुमान जी की यह भूख कोई शरीर की साधारण भूख नहीं है, जो किसी साधारण अन्न-फल से तृप्त हो जाय। उन्हें तो प्रकाश की भूख है, सत्य को जानने की भूख है। उनकी यह भूख इतनी प्रचण्ड है कि जन्म लेते ही उस तीव्र बुभुक्षा को शान्त करने हेतु उन्होंने सूर्य को अपने मुख में ले लिया।

एक अन्य प्रसंग में हनुमान जी जगज्जननी जानकी जी से वार्तालाप कर रहे हैं। वहाँ गोस्वामी जी ने उनके लिए कहा – उनमे भक्ति थी, प्रताप था, तेज और बल था –

भगति प्रताप तेज बल सानी ।।६/१७/७

लेकिन वार्तालाप करते करते अचानक उन्होंने कहा – माँ, मुझे बड़ी भूख लगी है –

सुनहु मातु मैं अतिसय भूखा ।। ६/१७/७

पढ़कर विचित्र-सा विरोधाभास लगता है। कोई व्यक्ति बढ़िया ज्ञान, भक्ति और दर्शन की चर्चा कर रहा हो और उसी समय अचानक खाने की चर्चा करने लगे, तो लगेगा कि यह कैसा विचित्र व्यक्ति है। कहाँ से कहाँ चला गया। लगता है कि हनुमान जी अपने स्वरूप से उतरकर शरीर में चले आये। पर उस वाक्य में हनुमान जी ने जिस शब्द का प्रयोग किया, उसमे बड़ा गहरा संकेत छिपा है। व्यक्ति को भूख लगने पर कहता है कि मै भूखा हूँ और ज्यादा भूख लगने पर कहता है – बड़ा भूखा हूँ। उससे भी अधिक कहना हो तो कह सकते हैं – अत्यन्त भूखा हूँ। पर हनुमान जी कहते है – केवल अति और अत्यन्त नही, बल्कि माँ मै अतिशय भूखा हूँ। इसका अभिप्राय क्या है? यदि व्यक्ति को चार-छह घण्टे खाना न मिले, तो उसे भूख लग आती है; दो-चार दिन न मिले, तो अति भूख लग आती है, परन्तु यह जो अतिशय भूख लग आयी है, इसका क्या अर्थ है? हनुमान जी ने कहा – माँ, जिसे जन्म लेते ही भूख लग आयी हो और आज तक भोजन न मिला हो, उससे बढ़कर भूखा और कौन होगा? जन्म से लेकर आज तक मेरे इस भूख के रहस्य को समझनेवाला कोई नही मिला। उल्टे मुझ पर वज्र से प्रहार किया गया। माँ ने कहा – इतनी लम्बी यात्रा की मार्ग मे अपनी भूख क्यों नही मिटा लिया? हनुमान जी बोले – माँ रास्ते मे जो भी मिले, सब खानेवाले ही मिले। सुरसा, सिंहिका, लंकिनी, सब खा जानेवाली ही मिली, खिलानेवाली कोई नहीं। इसलिए मेरी भूख कभी मिटी नही। तो यह भूख मिटेगी कैसे? – आपकी कृपा से। हनुमान जी की भूख अर्थात् जिज्ञासा। जिनके मन मे जिज्ञासा है, उन्हे सन्तोष नही होता।

रामायण में मनु के जीवन मे इन दोनो के सामंजस्य का बड़ा सुन्दर संकेत मिलता है। मनु संविधान के निर्माता हैं। उन्होंने राज्य स्वीकार किया और शास्त्रीय पद्धति से राज्य का संचालन करने के लिए संविधान का निर्माण किया, स्मृति-शास्त्र की रचना की। उस संविधान या स्मृति के सिद्धान्त के अनुसार उन्होने राज्य का संचालन किया और स्वयं भी उसका पालन किया। पर अन्ततः मनु को इतने से ही सन्तोष नही हुआ। जिन्हे उतने से ही सन्तोष हो जाता है, उनके लिए तो उतावलेपन की बात नही है। वे जितने काल तक उस संविधान के आधार पर कर्म करते रहेंगे, कर्म तथा उसके परिणाम का चक्र चलता रहेगा। व्यक्ति कर्म करेगा, तो उसके अच्छे और बुरे परिणाम होगे और वे अच्छे-बुरे फल व्यक्ति को बन्दी बनाए रखेंगे, वे फल व्यक्ति को भोगने पड़ेंगे। लेकिन उसके बाद भी जब व्यक्ति को सन्तोष नही होगा, तब वही होगा जो मनु के जीवन मे हुआ। गोस्वामी जी ने लिखा –

स्वायंभू मनु अरु सतरूपा ।
जिन्ह तें भै नरसृष्टि अनुपा ।।
तेहिं मनु राज कीन्ह बहु काला । १/१४२/१, ८

यह केवल मनु का प्रसंग नही है। यह तो मनुष्य जाति के जितने स्वाभाविक प्रश्न हैं, जिज्ञासाएँ है, उनका जो विकास-क्रम है, उसे यदि आप समझना चाहे, तो मनु की साधना के प्रसंग में उसे अन्तरंग दृष्टि से देखिए। मनुष्य शब्द के मूल में क्या है? जिनके मूल मे मनु है, वह मनुष्य है। इसका अर्थ यह है कि जो मानव-जाति का मूल पुरुष है, वह प्रारम्भ में संविधान के अनुकूल ही समाज को संचालित करने की चेष्टा करता है। लेकिन इतना होते हुए भी मनु को ऐसा अनुभव हुआ कि संविधान का इतना पालन करने के बाद भी कुछ प्रश्न ऐसे है, जो अनुत्तरित है। कुछ समस्याओं का समाधान हमे नही मिला है। इसका अभिप्राय क्या है? कर्म-सिद्धान्त की यह पंक्ति तो हम बड़ी सरलता से कह देते हैं –

करम प्रधान बिस्व करि राखा ।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।।२/२१९/४

लेकिन व्यक्ति के सामने बड़ी बड़ी उलझनें आती है । कभी कभी दिखाई देता है कि अच्छे कर्म करनेवाले व्यक्ति के जीवन मे दु:ख और संकट आ गया और दूसरी ओर यह भी दिखाई देता है कि कुछ लोगो के जीवन में बुरे कर्म दिखाई दे रहे हैं, पर उसका कोई बुरा फल दिखाई नहीं दे रहा है । ऐसी स्थिति मे मनुष्य का बुद्धि-विभ्रम होना स्वाभाविक है – यदि कर्म-सिद्धान्त ठीक है तो उसका उल्टा फल कैसे हो रहा है । तब उसके समाधान हेतु कर्मशास्त्र ने पुनर्जन्म के माध्यम से उत्तर देने की चेष्टा की । उसमे कहा गया कि यह आवश्यक नही है कि व्यक्ति को इस समय जो परिणाम मिल रहा है, वह इसी जीवन के कर्म का फल हो । पिछले जन्मों की परम्परा जुड़ी हुई है । सम्भव है कि वह अपने किसी पूर्वजन्म के कर्म का फल भोग रहा हो; जैसे रावण का वैभव, स्वर्णमयी लंका का स्वामित्व, उसका बल-पराक्रम, उसकी सिद्धियाँ और अद्भुत चमत्कार चूँकि उसके आचरण धर्म के अनुकूल नहीं दिखाई दे रहे है, तो उसे जोड़ने के लिए हम यही कहेंगे कि रावण ने पिछले जन्म में राजा प्रतापभानु के रूप में अनेक सत्कर्म और पुण्य किये थे और रावण के रूप में उसके परिणामों को भोग रहा है और साथ ही उसने जो पाप किये थे, उसके परिणाम उसे दण्ड के रूप में प्राप्त हो रहे हैं – इस प्रकार उसका समाधान दिया जाता है । पर व्यक्ति जिसे प्रत्यक्ष नही देख पाता, उसे ठीक से समझ नहीं पाता और उलझ जाता है । कर्म-सिद्धान्त कभी कभी व्यक्ति को सन्तोष नही दे पाता । महाराज दशरथ तथा भगवान राम के संवाद में कुछ इसी तरह की उलझी हुई बातें सामने आती हैं ।

भगवान राम वन जाने के लिए प्रस्तुत हैं । वे महाराज दशरथ के चरणों में प्रणाम करके वन जाने के लिए आज्ञा तथा आशीर्वाद माँगते हैं । महाराज दशरथ ने बड़े प्रेम से उन्हें अपने पास बिठा लिया । आँखो मे आँसू भरे परम व्याकुल होकर वे कहते है – राम, तुम्हारे बारे में मुझसे बारम्बार एक बात कही गयी । जो भी मुनि मेरे पास आते थे, मुझसे यह अवश्य कहते थे कि राम कहाँ है, मुझे उनका दर्शन करा दीजिए । तब मुझे आश्चर्य होता था कि मेरे पुत्र में ऐसा क्या आकर्षण है, जिस कारण दूर दूर के महामुनि उसका दर्शन करने आते हैं । जब मैं मुनियो से पूछता, तो वे हँसकर कहते थे – दशरथ, जिसे तुम अपना पुत्र समझते हो, वह तुम्हारा पुत्र नही है । तो क्या है? वह तो साक्षात् ईश्वर है । भगवान राम ने पिता की ओर देखा, पूछा – आपको मुनियों की बात सुनकर कैसा लगता था? महाराज दशरथ बोले – कभी कभी तो लगता था कि जब इतने मुनि, तत्त्वज्ञ और ज्ञानी कहते हैं, तो कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम सचमुच ईश्वर होओ । परन्तु आज ... ! आज क्या हुआ? देख लिया कि तुम ईश्वर तो बिल्कुल नहीं हो । क्यों? बोले, सारे शास्त्र कहते हैं –

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी ।
ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी ।।२/७७/७

वही कर्म-सिद्धान्त की बात दुहरा दी गयी । कहा – ईश्वर के द्वारा भी कर्म का विधान किया गया है । भले कार्य का भला भला और बुरे कार्य का बुरा फल देना ईश्वर का कार्य है । दशरथ जी बोले – राम, यदि तुम वास्तव में ईश्वर होते, तो तुम्हारा यह ईश्वरीय विधान कम-से-कम तुम्हारे घर में तो ठीक उतरता । पर यहाँ तो ठीक नहीं उतरा । – कैसे? बोले– अपराध किया कैकेयी ने और वन जाना पड़ा रहा है तुम्हें । यह कर्म-सिद्धान्त तो समझ में नहीं आता –

'औरु करै अपराधु कोउ और पाव फल भोगु ।।२/७७

भगवान राम ने मुस्कुरा कर कहा – ठीक है पिताजी, मैं ईश्वर नही हूँ पर कोई तो ईश्वर होगा? उन्होंने कहा – हाँ, कोई ईश्वर होगा, तो भी हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि उसके नियम को समझना टेढ़ी खीर है । नियम तो यह है कि अच्छा कर्म करनेवाला अच्छा फल पाता है और बुरा कर्म करनेवाला बुरा, पर अयोध्या में जो घटनाएँ हो रही हैं, जैसी उल्टी बातें हो रही है, उन्हें देखकर तो आज मुझे यही लगता है कि 'अपराध कोई करता है और फल किसी को भोगना पड़ता है ।' राम, अब भले ही हम ईश्वर को या कर्म-सिद्धान्त को अस्वीकार न करें, पर इतना तो जरूर कहेंगे – भगवान का यह कार्य अति विचित्र है, इसे समझ पाने की योग्यता किसी में नहीं है –

अति विचित्र भगवन्त गति को जग जानै जोगु।।२/७७

मनुष्य की इस उलझन का कर्म-सिद्धान्त के द्वारा सर्वदा समाधान नहीं हो पाता । रामायण के कई ऐसे प्रसंगों में यह प्रश्न उठता है कि इस रहस्य को ठीक समझना कैसे सम्भव हो सकता है? इसीलिए कहा गया – कठिन करमफल । कर्मफल के साथ कठिन शब्द जोड़ दिया गया । गणित के कुछ प्रश्न सरल होते हैं और कुछ कठिन । सरल प्रश्न तो पहली-दूसरी के विद्यार्थी भी हल कर लेते हैं, पर ज्यों ज्यों ये प्रश्न कठिन होते जाते हैं, त्यों त्यों साधारण व्यक्ति के लिए उन्हें हल कर पाना कठिन होता जाता है । कर्म-सिद्धान्त के कुछ प्रश्न तो सरल होते हैं – किसी ने अच्छा काम किया, तो अच्छा फल मिला । आपने सोचा – हमने यह किया, तो यह मिला । किसी ने बुरा कर्म किया, तो उसे बुरा फल मिला । तुरन्त गणित लगा लिया कि बुरे कर्म का बुरा फल मिल गया । परन्तु जीवन में कभी कभी कर्म का गणित जटिल हो जाता है, जब अनक जन्म के कर्मों का गणित आता है, तब पुराणों ने इसका उत्तर दिया कि कौन जाने इस गणित को जाननेवाला कोई है

भी या नहीं! इस कर्म-सिद्धान्त या कर्म-रहस्य को एक वाक्य में कह दिया गया कि इसे तो ब्रह्मा ही जानें, जो इस गणित में लगे रहते हैं, हम क्या जानें! रामायण में कहा गया –

कठिन करम गति जान विधाता ।
जो सुभ असुभ सकल फल दाता ।।२/२८२/४

चार मुखवाले ब्रह्मा, जो रात-दिन यही गणित करते रहते हैं, उसके और हमारे गणित में कभी बड़ा अन्तर पड़ जाता है । उनका गणित क्या है, यह तो वे ही जाने ।

अब यदि कर्म-सिद्धान्त से व्यक्ति को सन्तोष न हो, सभी प्रश्नों का समाधान न मिले, जिज्ञासा शान्त न हो, तब? यही स्थिति महाराज मनु के जीवन में दिखाई देती है । कर्म-सिद्धान्त मनुष्य के कुछ व्यावहारिक प्रश्नों का व्यावहारिक समाधान दे सकता है, पर समस्त जिज्ञासाओं को वह सन्तुष्ट नहीं कर सकता । 'मानस' में मनु के प्रसंग में वर्णन आता है कि मनु राज्य करते करते बूढ़े हो गये । उन्होंने कर्म-सिद्धान्त तथा उसके नियमों का पालन किया, परन्तु इतने मात्र से जीवन में सन्तुष्टि नहीं हुई । वे दुखी और व्याकुल हो गये । उनके जीवन में वस्तुओं की, भोगों की, व्यवस्था तथा सुख-सुविधा की कोई कमी नहीं है, फिर भी उन्हें लगा –

होइ न बिषय बिराग
भवन बसत भा चौथपन ।
हृदय बहुत दुख लाग
जनम गयउ हरिभगति बिनु।। १/१४२

क्रम प्रारम्भ हुआ । पहले ईश्वर का संविधान, फिर ईश्वर का अभावबोध । मनु के जीवन में ईश्वर की खोज शुरू हुई । इस खोज में भी बड़ा सुन्दर तथा विस्तृत क्रम है और प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह समझ लेने योग्य एक सार्थक क्रम है । प्रारम्भ में ही यह नहीं कहा गया कि मनु ने कोई साधना प्रारम्भ कर दी, बल्कि कहा गया कि मनु अपनी पत्नी के साथ राज्य छोड़कर वन में चले गये । अभिप्राय यह है कि भोग का जीवन उन्होंने देख लिया, उससे सन्तोष नहीं हुआ, तब त्याग की दिशा में बढ़े । कहाँ गये? गोस्वामी जी इस यात्रा-क्रम का वर्णन करते हैं । इस यात्रा में सर्वप्रथम गोमती नदी के तट पर पहुँचना है । वैसे तो पढ़कर बड़ा विचित्र-सा लगता है । गंगा के किनारे पहुँचना था । गंगा तो सबसे अधिक महिमामयी नदी है । पर मनु पहले गंगा के नहीं, गोमती के किनारे पहुँचे –

पहुँचे जाई धेनुमति तीरा ।। १/१४३/५

इसका अभिप्राय क्या है? जिस साधक के मन में जिज्ञासा होगी वह गंगाजी के पास बाद में जायगा, पहले गोमती में स्नान करेगा । गोमती के बाद गंगा । गोस्वामीजी ने तो गोमती का नाम ही बदल दिया । वैसे अगर किसी को पत्र लिखें और उसका पता उसके नाम के स्थान पर उसके नाम के पर्यायवाची शब्द लिख दें, तब तो उस व्यक्ति का पता लगाना ही कठिन हो जाय । इसी प्रकार नाम तो गोमती है, पर गोस्वामीजी ने यह शब्द नहीं लिखा । उन्होंने लिखा – मनु धेनुमती के तट पर पहुँचे । अब आप भारत के नक्शे में धेनुमती नदी खोज डालिए । इस नाम की नदी तो कहीं नहीं है । यहाँ आपको युक्ति लगानी पड़ेगी । गो को धेनु कहते हैं, अत: गोस्वामी जी कहते हैं धेनुमति । इसका अभिप्राय क्या है? इस शब्द के द्वारा वे एक संकेत देना चाहते हैं । तत्वज्ञान का श्रीगणेश कहाँ से होगा? धेनु और मति शब्द पर ध्यान दीजिए । मति अर्थात् बुद्धि और धेनु? उत्तरकाण्ड में ज्ञानदीप-प्रसंग में कहा गया –

सात्त्विक श्रद्धा धेनु सुहाई ।
जौं हरिकृपाँ हृदयँ बस आई ।।७/११७/८

धेनुमति माने सात्त्विक श्रद्धायुक्त बुद्धि । जिस बुद्धि में केवल तर्क-वितर्क है, बुद्धिमत्ता का अहंकार है, वह ईश्वर की ओर अभिमुख नहीं हो सकती । इसीलिए कहा गया –

पहुँचे जाइ धेनुमति तीरा ।
हरषि नहाने निरमल नीरा ।। १/१४३/५

धेनुमति के किनारे पहुँचते ही उन्होंने उसके निर्मल जल में स्नान किया । जैसे संसार में निर्मल जल भी धूल-मिट्टी-कीचड़ से मिलकर गन्दा हो जाता है, वैसे ही हमारी बुद्धि भी विभिन्न भोग-वासनाओं या राग-द्वेष के कारण मैली हो जाती है । पहले उस मैल को मिटाने की चेष्टा करनी चाहिए और उसका उपाय है धेनुमति में स्नान । सात्विक श्रद्धा में अवगाहन करने से मन की मलिनता दूर होती है । मनु ने धेनुमति में स्नान करके वही श्रद्धामयी बुद्धि प्राप्त की और तब साधना का क्रम आगे बढ़ा – मुनियों से मिलन हुआ –

आए मिलन सिद्धमुनि-ग्यानी ।
धरम धुरंधर नृपरिषि जानी ।।
जहँ जहँ तीरथ रहे सुहाए ।
मुनिन्ह सकल सादर करवाए ।। १/१४३/६-७

मनु ने पूछा – मुझे क्या करना चाहिए? मुनियों ने मनु को आज्ञा दी कि तीर्थों के जो विविध केन्द्र हैं, उसकी यात्रा करो । तीर्थ पवित्र भूमि है । तीर्थों से जुड़ी हुई जो कथाएँ हैं, वे मनुष्य के लिए आध्यात्मिक अर्थों में और बहिरंग अर्थों में भी बड़े महत्व की हैं । साधारणतया व्यक्ति यह समझ लेता है कि भूमि तो सर्वत्र एक जैसी है, पर ऐसी बात नहीं है । भूमि भूमि में भेद तो भौतिक दृष्टि से भी दिखाई देता है । कश्मीर में केशर उत्पन्न होता है, पर यदि भारत के किसी अन्य क्षेत्र में हम केशर उगाना चाहें; तो भारत की भूमि होकर भी वहाँ केशर उत्पन्न नहीं हो सकती । इसका अभिप्राय यह है कि भौतिक अर्थों में भी यह कहना ठीक नहीं है कि सभी भूमि एक जैसी है । इसी प्रकार आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थों में

भी जो भूमि चैतन्य हो चुकी है, जहाँ पर ईश्वर ने प्रकट होकर किसी-न-किसी प्रकार से लीला सम्पन्न की है, वहाँ की विशेषता यह है कि उस भूमि मे भगवान केवल व्याप्त ही नहीं है, बल्कि प्रगट भी होते हैं – जैसे, भगवान राम की जन्मभूमि अयोध्या, भगवान श्रीकृष्ण की जन्मभूमि वृन्दावन । वैसे तो भगवान सभी स्थानो में सर्वत्र परिव्याप्त हैं पर कही कहीं पर वे प्रगट होते है और यह प्रगट होना ही बड़े महत्व की बात है । इसी बात को कबीरदास जी अपने एक दोहे में कहते हैं – जितने घट हैं, उन सबमें मेरे स्वामी ही विराज रहे हैं –

सब घट मेरा साइया सूना घट नहिं कोय ।
बलिहारी वा घट की जा घट परगट होय ।।

तो फिर सन्तो की क्या विशेषता है? हम उनकी महिमा क्यों गावे? सभी घट में है तो अवश्य, पर दिखाई नहीं दे रहा है । जिस घट में वह प्रत्यक्ष रूप में प्रगट हो रहा है, वह घट धन्य है । तीर्थ का यही तात्पर्य है और इसीलिए तीर्थयात्रा का महत्व है । साधना में देश की अनुकूलता का महत्व है । साधना के सन्दर्भ में पूजा-पाठ का जो विधान बताया गया, उसमें कहा गया है – **शुचौ देशे प्रतिष्ठाय** (गीता, ६/११) – अभिप्राय यह कि व्यक्ति जिस स्थान पर बैठकर साधना करे, वह स्थान पवित्र हो । साधक यदि चाहे-जहाँ बैठकर साधना करने लगेगा, तो भूमि का प्रभाव उस पर पड़ेगा ही । यदि देश की प्रतिकूलता रहेगी, तो साधना में विघ्न उपस्थित होगा । एक बड़ी प्रसिद्ध घटना मैंने पढ़ी थी – एक स्थान पर कुछ लोग प्रार्थना करने बैठे, तो उन लोगों के मन में अपने आप ही बुरे बुरे विचार और पशुओं की हत्या के दृश्य आने लगे । बाद में जब पता लगाया गया कि ऐसा क्यों हुआ, इतने लोगो के मन मे ऐसी बात क्यो आई, तो पता चला कि कुछ समय पहले वहाँ एक कसाईखाना था, वहाँ पर पशुओं की हत्या होती थी । इसका अभिप्राय यह है कि भूमि मे जो संस्कार बैठ गये है, वे यदि हमारे लिए प्रतिकूल हैं, तो उसके फलस्वरूप हमारे अन्त:करण में अन्तर्द्वन्द्व प्रारम्भ हो जायेगा । भूमि और हमारे संस्कार यदि एक-दूसरे के प्रतिकूल होंगे, तो दोनों में टकराहट होगी और जो प्रबल होगा, वह जीत जायेगा । यदि भूमि के अपवित्र वातावरण का प्रभाव जीत जायेगा, तो मनुष्य का मन अपवित्र हो जायगा और यदि मनुष्य के मन की पवित्रता जीत जायगी, तो वह स्थान भी पवित्र हो सकता है ।

इस बात को हमारे यहाँ बड़ी सुन्दर पद्धति से कहा गया है । पुराणों में कथा है – गंगाजी से कहा गया कि आप मृत्युलोक में जाकर वहाँ के निवासियों को पवित्र करें । गंगाजी बोलीं – नही, मैं वहाँ नहीं जाऊँगी । – क्यों? – बोलीं – सब लोगो के पाप धोने पर उनसे मैं मलिन हो जाऊँगी । उनसे कहा गया – आप इसकी चिन्ता न करें, वहाँ केवल मलिन करनेवाले पापी ही नहीं, निर्मल करनेवाले सन्त भी हैं । पापियो के स्नान करने से यदि आप में मलिनता आ जायेगी, तो सन्तों के स्नान से वह मलिनता दूर भी हो जायगी । तब गंगाजी ने इस भूमि पर आना स्वीकार किया । इसका अभिप्राय यह हुआ कि ऐसे महापुरुष भी होते हैं, जिनके संकल्प तथा पवित्रता से देश और परिवेश पवित्र हो जाता है ।

यदि कोई भूमि पहले से ही पवित्र हो, तो वहाँ साधना की गति तीव्र हो जाती है । इसीलिए हमारे शास्त्रों में तीर्थों को इतना महत्व दिया गया है, उनकी इतनी महिमा गायी गई है । केवल परम्परा के रूप में नहीं, उसकी बात तो अलग है । परम्परागत ढंग से जो लोग तीर्थयात्रा करते हैं, वह तो केवल परम्परा की निर्वाह मात्र है । पर यदि उसके साधन रूप पर दृष्टि डालें, तो इसका अभिप्राय यह है कि जब हम साधना के उद्देश्य से ही तीर्थयात्रा करेंगे, तब हमें उसकी पवित्रता की अनुभूति होगी और हमारी साधना में तीव्रता आयेगी ।

इस दृष्टि से एक सुन्दर संकेत सतीजी के प्रसंग में दिया गया है । एक बार भगवान शंकर ने सतीजी से कहा – चलो दण्डकारण्य चलें । सतीजी बोलीं – महाराज, कैलाश की पवित्र भूमि को छोड़कर दण्डकारण्य की अपवित्र भूमि में क्यों जायँ? शंकरजी की सांकेतिक भाषा यह थी कि दण्डकारण्य पहले अपवित्र रहा होगा, पर अब तो वह परम पवित्र हो गया है । जिस भूमि पर साक्षात् भगवान ही लीला कर रहे हों, उससे बढ़कर पवित्र भूमि और कौन-सी हो सकती है? और सचमुच ही भगवान शंकर ने दण्डकारण्य में वही रस प्राप्त किया । पर यह भी ध्यान रहे कि सतीजी को वह रस नहीं मिला । सतीजी की दृष्टि मे तो दण्डकारण्य का वही रूप था, क्योंकि उन्होने भगवान को भगवान के रूप में देखा ही नहीं । उनके मन में तो दण्डकारण्य की अपावनता का संस्कार ही दृढ़मूल हो गया है । इसीलिए उन्हें न तो उस भूमि में पवित्रता की अनुभूति हुई, न ही भगवान का दर्शन हुआ और न ही उन्हें रस मिला । इस प्रकार से दृष्टिभेद से भूमि के ये दो रूप दिखाई देते हैं । एक रूप शंकर जी के जीवन से जुड़ा है और दूसरा सतीजी के जीवन से ।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द के संस्मरण

मन्मथनाथ गांगुली

(धन्य थे वे लोग, जो स्वामीजी के काल में जन्मे तथा उनका सामीप्य पाया । उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं । ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुए है, जिनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हो चुका है । प्रस्तुत लेख संघ के अंग्रेजी तथा बँगला पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होने के बाद 'Reminiscences of Swami Vivekananda' तथा 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' नामक ग्रन्थों में संकलित हुए हैं, जहाँ से हम इनका अनुवाद प्रस्तुत कर रहे हैं । – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

एक बार स्वामीजी स्टीमर से ग्वालन्द जा रहे थे । ... एक जगह स्टीमर को रोका गया । स्वामीजी ने कहा, "पुई का शाक तथा गरम भात होने से बड़ा अच्छा होता ।" समीप ही एक गाँव था । शाक लाने के लिए कानाई महाराज उसी ओर गये । परन्तु वहाँ कोई बाजार नहीं लगता था । वे पूछताछ कर रहे थे, तभी एक सज्जन बोले, "चलिए, हमारे घर के उद्यान में बहुत-सा पुई-शाक है । परन्तु एक शर्त है! स्वामीजी का एक बार दर्शन कराना होगा ।" वे स्वयं ही अपने सिर पर एक टोकरी पुई-शाक लेकर चले । बाद में (लौटते समय) स्वामीजी ने उनकी असीम भक्ति तथा अनुराग देखकर, उन्हें कृपा करके दीक्षा दी थी । भक्त कहा करते थे, "मुझ पर कृपा करने के लिए ही स्वामीजी के मन में पुई-शाक खाने की इच्छा उठी थी । नहीं तो मैं ऐसे सौभाग्य से वंचित हो जाता ।"

सर्वजीवों के प्रति उनकी जो तीव्र मंगलाकांक्षा थी, उसका आपात् दृष्टि से उनकी छोटी मोटी बातों या कार्यों को देखने से आभास नहीं मिलता था, परन्तु यदा-कदा ऐसी ही घटनाओं के माध्यम से वह व्यक्त हो उठती थी ।

राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) मठ के अध्यक्ष थे । दीक्षार्थियों को वे माताजी के पास ही भेज देते थे । स्वामीजी स्वयं भी प्राय: किसी को दीक्षा नहीं देते थे । उनसे दीक्षा-प्राप्त लोगों की संख्या उंगलियों पर गिनी जा सकती है । इलाहाबाद के मेरे मित्रों में से एक भक्तराज (हरिनाथ ओहदेदार, बाद में स्वामी सदाशिवानन्द) को वाराणसी में दीक्षा मिली थी और हरेन बाबू ने (बेलूड़) मठ में जाकर दीक्षा पायी थी । भक्तराज काफी काल तक विज्ञान महाराज के पास रहे । फिर १९२० ई. में राखाल महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) ने वाराणसी में चारु बाबू, केदार बाबू आदि के साथ उन्हें भी संन्यास दिया था । हरेन बाबू ने संन्यास नहीं लिया, अन्त तक वे सफेद वस्त्रों में ही रहे, परन्तु वे साधु-भाव से ही रहा करते थे । वे कहते, "स्वामीजी तो मुझे गेरुआ दे नहीं गये, सफेद वस्त्रों में ही रहने को कह गये हैं ।" उन्होंने पूरा जीवन ब्रह्मचारी के रूप में ही बिता दिया । ब्रह्मचारी ज्ञान आयु में सबसे छोटे थे ।

मेरे ही नाम के एक अन्य 'मन्मथ' भी स्वामीजी के शिष्य थे; वे भी गृहस्थ थे – श्री मन्मथ मुखोपाध्याय । वे कलकत्ते के ही आदमी थे । इसके अतिरिक्त उनके अन्य जो गृही शिष्य थे, उनके साथ मेरा परिचय नहीं हुआ । शरच्चन्द्र चकवर्ती, जिन्हें स्वामीजी व्यंगपूर्वक 'बांगाल' कहते थे, की दीक्षा के समय मैं मठ में ही था । वे बड़े विद्वान् तथा पण्डित व्यक्ति थे । स्वामीजी के साथ उनका एक तरह का अच्छा सख्य-भाव था । हम लोग लिहाज करके उनसे दूर दूर रहते । स्वामीजी भी शरत् बाबू के साथ व्यंग-विनोद करना पसन्द करते थे । उनके प्रति स्वामीजी का खूब स्नेह-भाव भी था । शरत् बाबू कभी-कभार तर्क करना पसन्द करते थे, उनका शास्त्र आदि का ज्ञान भी काफी गहरा था । स्वामीजी भी उन्हें चिढ़ाकर खूब आनन्द लिया करते थे । उनके साथ कभी कभी अन्य गुरुभाई भी आकर जुट जाते । वैसे तो शरत् बाबू सर्वदा जैसे सहज भाव से बातचीत करते थे, दीक्षा के दिन – दीक्षा हो जाने के बाद वे मानो चुपचाप हो गये थे । वे भावुक स्वभाव के थे और उनके भक्ति-प्रेम के चलते मठ के सभी महाराज-गण उन्हें स्नेह तथा प्रीति की दृष्टि से देखते ।

स्वामीजी साधारण रूप से अति साधारण बाते करते हुए सहसा धाराप्रवाह गम्भीर बातें कहने लगते थे । मंत्रदीक्षा न पाकर भी जिन लोगों ने उनसे आन्तरिक दीक्षा प्राप्त की है, इसकी गणना नहीं हो सकती । वाराणसी में एक बार दो मित्र उनसे मिलने आये थे । बातचीत जैसे सामान्य तौर से आरम्भ हुआ करती है, वैसे ही कुछ इस प्रकार शुरू हुई, "स्वास्थ्य कैसा है?"

"स्वास्थ्य! बंगाली शरीर ऐसे ही पेट के रोग से गया ।" फिर इसी भूमिका से आरम्भ करके उन्होंने बंगाली लोगों तथा उत्तर भारत के लोगों के स्वास्थ्य की एक तुलनात्मक चर्चा की । क्रमश: वे पूरी दुनिया के खानपान और शरीर तथा स्वास्थ्य पर बोलने लगे । और फिर 'अन्न ही ब्रह्म है' कहकर उन्होंने विषय का समापन किया – जो जैसा अन्न खाता है, उसका शरीर-मन उसी प्रकार से गठित होता है और तदनुसार उसमें ब्रह्मज्ञान की योग्यता आती है ।

जिन सज्जन ने प्रसंग उठाया था, वे प्राय: चालीस मिनट तक यह व्याख्यान सुनकर दंग रह गये । बाद में उन्होंने कहा था, "ऐसी अद्भुत बातें मुझे जीवन में कभी सुनने को नहीं मिली थीं । साधारण-से भोजन के भीतर इतनी महत्व-पूर्ण बातें निहित हैं!"

बेलूड़ मठ में एक सज्जन उनसे मिलने आये थे । वे एक क्लर्क थे । क्लर्क का कार्य किस प्रकार करना चाहिए, किस प्रकार फाइल आदि रखना चाहिए, हस्तलेख कैसा अलग अलग तथा स्पष्ट होना चाहिए, आदि बातें वे गहराई के साथ लगभग पच्चीस मिनट तक बोलते रहे । यह कार्य केवल आजीविका के लिए नहीं है, बल्कि देश तथा समाज का कार्य है । क्रमश: उन्होंने इस भाव में सबका मन उन्नीत कर दिया कि 'कर्म ही ब्रह्म है' – ऐसी अनुभूति होने लगी । जो लोग सुनते, वे केवल शब्द ही नहीं सुनते, बल्कि उस वाणी के पीछे एक शक्ति कार्य करती थी, मन कुछ काल के लिए समग्रता की चेतना से आच्छन्न हो जाता । वही भाव सारे जीवन के लिए पाथेय तथा साधना में परिणत हो जाता । यह बात केवल स्वामीजी में ही दीख पड़ती हो, ऐसी बात नहीं । स्वामीजी के कुछ अन्य गुरुभाइयों में भी यही गुण था । परन्तु स्वामीजी अपने स्वभाववश सभी विषयों पर थोड़ा जोर देकर बोलते थे और उनकी बातो में एक अद्भुत शक्ति हुआ करती थी, जो मन को अनुभव करा देती थी ।

स्वामीजी का व्याख्यान सुननेवालों के मुख से मैंने सुना है – वे अपने व्याख्यान के साथ साथ समस्त श्रोताओं को सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर उठा देते थे और अन्त में सबके मन में यह भाव प्रविष्ट हो जाता कि 'ब्रह्म ही सर्व-सत्तामय है' ।

कई बार स्वामीजी हास-परिहास के माध्यम से भी 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का भाव प्रविष्ट करा देते थे । भक्तराज महाराज ने एक बार उनका अट्टहास देखा था । महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) तक विस्मित थे । उस अट्टहास की ध्वनि-तरंगे सीढ़ी-दर-सीढ़ी एक सुर से दूसरे सुर तक उठ रही थी और उसके साथ ही मन भी उठता जा रहा था । फिर एक विराट् की महिमा में सब कुछ आच्छन्न हो गया ।

हम लोग जिन आध्यात्मिक अवस्थाओं को जीवन का चरम लक्ष्य समझते हैं, उनके लिए वह सब बच्चों का खेल था । हँसते हँसते ही उनका मन निरुद्ध हो जाता । हास्य या विनोद के माध्यम से ही वे हृदय को कुछ ऐसा संकेत या स्पर्श दे देते कि उसी से सारा कार्य हो जाता । ये सब बातें किसी को बताने की नहीं हैं, क्योंकि इन्हें समझनेवाला भी कौन है! परन्तु जो लोग उनके पास गये हैं, देखा है, उनके लिए इन बातों में कुछ नवीनता नहीं है ।

उन दिनों हमारे लिए राजनीति से तात्पर्य था – देश की स्वाधीनता । देश अंग्रेजों के अधीन था और इस कारण अनेक युवकों के मन में दु:ख था । एक भारतवासी के रूप में स्वामीजी भी इस पराधीनता की ग्लानि को अत्यन्त गम्भीर रूप से अनुभव करते थे । किसी किसी व्यक्ति के समक्ष उन्होंने अंग्रेजों के विषय में बड़ी कठोर बातें भी कही थीं । परन्तु इसी को उनका एकमात्र भाव मानना भूल होगी । उन्होंने अंग्रेजों के गुणों का बखान भी किया है । उन्होंने बारम्बार यूरोपीय लोगों की कर्मठता की प्रशंसा की है । परन्तु चाहे जो कोई भी अत्याचार या मानवता का अपमान करता है, उन्होंने उसके विरुद्ध दृढ़तापूर्वक अपना मत प्रकट किया है ।

एक बार एक महाराष्ट्रीय सज्जन ने उन्हें अंग्रेजों के अत्याचार तथा अनाचार के बारे मे बहुत-सी बाते बतायीं । स्वामीजी थोड़ी देर तक गम्भीर तथा स्तब्ध रहे । इसके बाद उन्होंने उन्हीं सज्जन से प्रतिप्रश्न किया, "तो फिर इतना अत्याचार मुख बन्द करके सहन ही क्यों कर रहे हो?" वे बोले, "मैं भला कर ही क्या सकता हूँ?" स्वामीजी ने उच्च स्वर में कहा, "क्यों? उनका गला दबाकर समुद्र में बहा दो ।" यह केवल उनके मुख की बातें मात्र नहीं थीं; अपमान को सहन करना उनके स्वभाव में ही नहीं था । ट्रेन के डिब्बे में अंग्रेज सैनिकों द्वारा अपमानित होने पर उन्होंने उनमें से दो को बगल में दबाकर कहा था, "दरवाजे से बाहर फेंक दूँगा ।" उनके व्यक्तित्व के प्रति असम्मान दिखाने पर उनकी यही प्रतिक्रिया थी । वे यह भी चाहते थे कि राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए संग्राम हो । परन्तु यह बात भी निश्चित था कि उन्होंने अपने गुरुभाइयों तथा मठ को राजनीतिक मामलों से अलग रखा था । एक बार कोई उच्च पदस्थ अंग्रेज राजपुरुष उनके साथ मिलने आये थे । उनकी इच्छा थी कि स्वामीजी स्वयं जाकर बड़े लाट (गवर्नर) या उनके किसी सचिव के साथ भेंट करें । परन्तु 'संन्यासी का राजा से मिलना निषिद्ध है' – इस नीति का उन्होंने अक्षरश: पालन किया था । उन दिनों के सरकारी तंत्र और विशेषकर खुफिया विभाग के बड़े अधिकारी मठ के प्रति अच्छा मनोभाव नहीं रखते थे । परन्तु इन अंग्रेज सज्जन की स्वामीजी के प्रति क्या दृष्टि थी, यह वे ही जानें । उनके मुख से अपने आप ही ये बातें निकल पड़ीं – "आप मेरे ईश्वर हैं, आप ही मेरे ईसा हैं ।" उनके प्रभाव से गवर्नर के दफ्तर का मनोभाव काफी बदल गया था ।

स्वामीजी ने भविष्य के उदार दृष्टिकोण के द्वारा उसी समय मठ का भविष्य देख लिया था । वे जानते थे कि सभी जातियों तथा सम्प्रदायों को तथा सभी भाव के लोगों को लेकर संघ को चलना होगा । ऐसे अनेक लोगों को मठ में स्थान मिला था, जो पहले राजनीतिक आन्दोलन में भाग ले चुके थे, परन्तु मठ को प्रत्यक्ष रूप से राजनीति के साथ जोड़ने से उन्होंने कठोरतापूर्वक मना कर दिया था ।

मैंने भूपेन बाबू को कहते सुना है, "स्वामीजी और भी कुछ दिन बाद आते, तो राजनीतिक आन्दोलन चलाते ।" उन्होंने उनको एक युगान्तरकारी शक्ति के रूप में ही देखा है, परन्तु उन्होंने उनके भाव को राजनीति तक ही सीमित करके

देखने का प्रयास किया है, जबकि स्वामीजी सभी सीमाओं के परे थे । महा-मानवता की दृष्टि के साथ वे सभी देशों की मंगल-कामना कर गये हैं । हमारे अपने देश की आत्मचेतना जाग्रत हो – यह इच्छा तो उनमें स्वाभाविक ही थी । इसी कारण वे त्यागी संन्यासियों का एक संघ गठित कर गये, जो लोग अपने जीवन में उनके उसी भाव को जाग्रत रखेंगे और बाह्य जगत् के कर्मों के माध्यम से उसे रूपायित करेंगे ।

भगिनी निवेदिता के विषय में भी कुछ लोगों की धारणा है कि वे राजनीतिक आन्दोलन के साथ जुड़ी थीं । केवल इतना ही नहीं, स्वामीजी की सहमति के बिना वह सम्भव ही नहीं था । वे कहना चाहते हैं कि एक अन्य रूप से स्वामीजी राजनीतिक आन्दोलन के समर्थक थे । परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी ने स्वयं को तथा संन्यासी-संघ को राजनीति के ऊपर रखा था । वाराणसी (वस्तुत: बेलूड़ मठ) में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उनके साथ भेंट की थी । राजनीति के विषय में उनके बीच विशद चर्चा हुई थी । स्वामीजी ने उनके साथ विभिन्न आन्दोलनों के दोष-गुणों का तुलनात्मक विश्लेषण किया था और अपना मत स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था । उसी समय उन्होंने यह भी स्पष्ट रूप से बता दिया था कि धर्म का स्थान राजनीति के बहुत ऊपर है ।

भगिनी निवेदिता आयरलैण्ड की पुत्री थीं । आयरलैण्ड तब भी स्वाधीन नहीं हुआ था । अत: उनके मन में भारत के क्रान्तिकारियों के प्रति सहानुभूति होना स्वाभाविक था । दूसरी ओर स्वामीजी किसी की व्यक्तिगत स्वाधीनता में हस्तक्षेप नहीं करते थे । पर इसके बावजूद वे यह नहीं चाहते थे कि भगिनी निवेदिता अपना आध्यात्मिक लक्ष्य छोड़कर राजनीति में फँस जायँ । इसीलिए उन्होने उनको भारत की भावधारा समझकर उसकी सेवा करने को कहा था । गुप्त महाराज (स्वामी सदानन्द) उन्हे बँगला भाषा सिखाने जाया करते थे । अन्य ब्रह्मचारीगण भी उनकी खोज-खबर लिया करते थे । परन्तु उन्होने उनको मठ से अलग रहकर ही अपनी इच्छा तथा भाव के अनुरूप कार्य चुन लेने को कहा था । भारत के पुराण तथा उपनिषद् भगिनी बहुत अच्छी तरह जानती थीं और वे स्वयं भी मनप्राण से भारत की एक पुत्री हो गयी थीं । श्री माँ का उन पर अजस्र स्नेह था और उन्होंने श्री माँ के आदर्शानुसार ही स्वयं को पूरी तौर से भारत के कल्याण में न्यौछावर कर दिया था ।

उन्होंने लड़कियों का एक स्कूल खोलकर, शिक्षा के द्वारा उनका जीवन गढ़ने में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी । यह उनका आत्मत्याग था । ऐसी प्रतिभा तथा वाग्विदग्धता की शक्ति से युक्त होकर एक राजनीतिक नेत्री होना उनके लिए जरा भी कठिन कार्य न था । परन्तु स्वयं को एक छोटे क्षेत्र मे सीमित रखकर वे जो कार्य कर गयी हैं, बाहर से उसका आलोक अधिक दिखाई न देने पर भी अन्तर्जगत् में बालिकाओं के भीतर एक अद्भुत शक्ति का संचार हुआ है ।

'स्वयं आचरण करके ही दूसरों को धर्म सिखाना'' – यह महावाक्य भगिनी के जीवन में अक्षरश: पालित हुआ था । स्कूल के सामने की गली के गन्दे रहने पर अनेकों बार उन्होंने अपने हाथ में झाड़ू लेकर पूरे रास्ते की सफाई की है । मुहल्ले के सभी घरों की महिलाएँ अपनी बच्चियों से कह देतीं, ''अरे, रास्ते में कुछ न फेंकना । 'मेम साहब' अभी झाड़ू लेकर साफ करने चली आयेंगी ।''

भगिनी निवेदिता सबसे प्रेम करती थीं, तभी तो लोगों के मन में उनके प्रति इतना लिहाज था । फटा हुआ कागज, पत्ते या टूटे हुए खिलौने – कुछ भी वहाँ फेंका नहीं जा सकता था । उस दिन भगिनी को जिन लोगों ने देखा था, उनमें से कई लोग अब भी जीवित हैं । वे लोग ही अब भी बता सकते हैं कि भगिनी और श्री माँ की शिक्षा किस प्रकार की थी । मनुष्य का निर्माण ही उनका प्रधान कार्य था । भगिनी निवेदिता स्वामीजी की शिष्या तो थीं, परन्तु उन्हें श्री माँ का भी अजस्र स्नेह प्राप्त हुआ था और उन्होंने बालिकाओं को शिक्षा भी इसी देश की भावधारा के अनुसार देने का प्रयास किया था । इसी कारण भगिनी ने भी राजनीति को प्राधान्य नहीं दिया । यदि वे राजनीति को अपने कर्मक्षेत्र के रूप में वरण करतीं, तो उनके समान गुणवती तथा ओजस्विनी महिला उस क्षेत्र में भी कुछ बड़ा कर जातीं । स्वेच्छापूर्वक ही उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया । परन्तु पूरी तौर से उन्होंने उसे टाला भी नहीं । शायद यही कारण है कि उन्होंने बाह्य संन्यास भी नहीं लिया । तो भी मैंने उन्हे हल्के रंग का गेरुआ पहने देखा है और गले में वे रुद्राक्ष की माला पहनती थीं । इसी से उनके अन्त:संन्यास का भाव स्पष्ट समझ में आ जाता था । इस राजनीति के कारण ही सम्भवत: वे मठ से भी अलग रहती थीं । तथापि उनके जीवन का लक्ष्य इस कर्मजगत् के भीतर ही आबद्ध न था । वेदान्त की चरम अनुभूति ही उनके जीवन का मूल लक्ष्य था । स्वामीजी की इच्छा से उन्होंने कर्म को स्वीकार किया था और वे छोटे छोटे कार्यों के माध्यम से अपने जीवन में 'सेवा का आदर्श' दिखा गयी हैं । ❖ **(आगामी अंक में समाप्य)** ❖

अपरिग्रह का सुख

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विभिन्न विषयों पर अनेक विचारोत्तेजनक लेख लिखे थे, जो आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

अध्यात्म के साधकों के लिए 'अपरिग्रह' महाव्रत के रूप में रखा गया है। महर्षि पतजलि ने अपने योगसूत्रों में उसे अष्टाग योग साधन के अन्तर्गत यम के पाँच स्तम्भों में से एक माना है। 'अपरिग्रह' का अर्थ होता है - 'परिग्रह का अभाव'। और 'परिग्रह' का तात्पर्य है - लेना, स्वीकार कर लेना। इस प्रकार अपरिग्रह वह गुण है, जो किसी से भेंट स्वीकार करने का निषेध करता है।

यह तो एक जानी समझी बात है कि जब हम किसी से कोई भेंट ग्रहण करते हैं, तो हमारा मन देनेवाले के प्रति कृतज्ञता का अनुभव करता है और स्वाभाविक ही उससे प्रभावित भी होता है। ऐसा प्रभाव हमारे आध्यात्मिक जीवन के लिए हानिकारक हो सकता है। इसलिए परिग्रह का निषेध किया गया है।

आध्यात्मिक जीवन की बात छोड़ दें, तो सामान्य जीवन में भी, परिग्रह स्वास्थ्यकर नहीं होता। सच्चा स्नेह तथा निःस्वार्थ भेंट ससार में एक विरल बात है। हम अपने अत्यन्त नजदीकी लोगों को प्यार स्वरूप कोई भेंट देते हों, तो उसमें कोई आपत्ति नहीं है, आपत्ति तो तब होती है जब व्यक्ति हमसे कुछ अनुचित कराने के लिए हमें उपहार देता है। ऐसे व्यक्ति से कुछ स्वीकार करना आफत ही मोल लेना होता है। दशहरा-दीवाली में वह हमें कुछ भेंट करना चाहेगा और हम यदि स्वीकार नहीं करेंगे तो कहेगा कि यह तो बच्चों के लिए लेता आया हूँ। अगर हमने भेंट स्वीकार कर ली, तो समझ लीजिए कि हमें परिग्रह के दोष घेर लेंगे और हमारा मन उस भेंट देनेवाले व्यक्ति के द्वारा प्रभावित हो जायेगा। फलतः हम नैतिकता के मानदण्ड को सुरक्षित नहीं रख पायेंगे।

मेरे एक परिचित जिला एवं सत्र-न्यायाधीश थे। बड़े ईमानदार और न्यायपरायण। वे एक किस्सा सुनाते हैं। एक व्यक्ति उनसे परिचित होने के लिए आतुर था। उसने अपनी पत्नी को उस क्लब का सदस्य बना दिया, जहाँ न्यायाधीश महोदय की पत्नी जाया करती थीं। उस व्यक्ति की पत्नी ने न्यायाधीश की पत्नी से मेल-जोल बढ़ाया।

धीरे धीरे तोहफों और भेंटों का एकतरफा दौर शुरू हो गया। मौका देखकर उस व्यक्ति ने एक दिन न्यायाधीश महोदय से एक मामले पर सहानुभूति का रुख अपनाने का अनुरोध किया। न्यायाधीश ने देखा कि मामला तो निहायत खराब है। अपने इस नये बने मित्र को मदद देने की उनकी इच्छा तो हुई, पर उनके न्यायपरायण मन ने ऐसा नहीं होने दिया और फैसला उस व्यक्ति के विरुद्ध हुआ। तब से उस व्यक्ति का आना-जाना और मेल-मिलाप ही बन्द हो गया। यदि न्यायाधीश महोदय दृढ़ इच्छाशक्ति से सम्पन्न न होते, तो परिग्रह उन्हें ले डूबता।

इस घटना से एक और संकेत मिलता है कि जो लोग किसी स्वार्थवश भेंट देते रहते हैं, उनका स्वार्थ यदि न सधा, तो उनका भेंट देने का क्रम बन्द हो जाता है। परिग्रह में स्वार्थ का यह तत्त्व अनिवार्य रूप से मिला रहता है। इसीलिए नैतिक जीवन बिताने हेतु अपरिग्रह पर इतना जोर दिया जाता है।

'परिग्रह' का एक और अर्थ हिन्दी में रूढ़ हो गया है – वह है 'आवश्यकता से अधिक का संचय'। यह खुला रहस्य है कि जब भी हम आवश्यकता से अधिक कुछ संचय करते हैं, तो दूसरे के हक को मारकर ही ऐसा करते हैं। 'आवश्यकता' की परिभाषा अलग अलग व्यक्ति के सन्दर्भ में अलग अलग हो सकती है, पर जो भी अपनी आवश्यकता से अधिक का सचय करेगा, वह दूसरे का अधिकार छीनकर ही वैसा करेगा। इस दृष्टि से भी 'परिग्रह' नैतिक मूल्यों का विरोधी है। यह समाज के सन्तुलन को बिगाड़ देता है। जनता की गरीबी के मूल में देश के शेष लोगों का परिग्रह ही है। अपरिग्रह का गुण ऐसी दूषित मनोवृत्ति के लिए अकुश का काम करता है और सामाजिक स्वस्थता के लिए उचित वातावरण का निर्माण करता है। ❑

माँ के सान्निध्य में (६१)

नलिन बिहारी सरकार

ध्यान-जप का प्रसंग उठने पर माँ ने कहा, "ध्यान-जप के लिए एक नियमित समय रखने की बड़ी आवश्यकता है; क्योंकि कोई कह नहीं सकता कि कब वह शुभ क्षण[१] आ पहुँचेगा । वह सहसा ही आ पहुँचता है, कोई आहट नहीं मिलती । अत: चाहे जितने भी झंझट क्यों न हों, नियम का पालन बहुत जरूरी है ।"

मैं – काम-काज के झंझट या बीमारी आदि के कारण सर्वदा नियम को बनाये रखना सम्भव नहीं हो पाता ।

माँ – बीमार होने पर तो अपना कोई वश नहीं चलता । और यदि काम का बहुत झंझट हो, तो स्मरण-प्रणाम करने से भी हो जाता है ।

मैं – कौन-सा समय निर्धारित करना ठीक होगा?

माँ – सन्धि-क्षण में उन्हें पुकारना अच्छा है । रात जा रही है, दिन का उदय हो रहा है और दिन डूब रहा है, रात आ रही है – यही सन्धि है । इस समय मन पवित्र रहता है ।

मन की दुर्बलता के विषय में पूछे जाने पर माँ ने कहा था, "बेटा, यह प्रकृति का नियम है; जैसे अमावस्या और पूर्णिमा होती है, वैसे ही मन भी कभी अच्छा होता है तो कभी बुरा ।"

माँ जब जयरामबाटी से बागबाजार जाती थीं, तब वे मुझे बीच बीच में जयरामबाटी जाकर समाचार लेने को कह जाती थीं । मैं यथासाध्य उनका यह आदेश पालन करने का प्रयास करती, परन्तु उनके जयरामबाटी में न रहने पर वहाँ जाने से उतना आनन्द नहीं मिलता था । यह बात मैंने पत्र लिखकर माँ को सूचित किया था । उन्होंने जयरामबाटी लौटकर बातचीत के दौरान मुझसे कहा, "ओ नलिन, रसोइदारिन क्या कहती है, सुनो ।" इस बार कलकत्ते जाते समय माँ रसोईदारिन को छुट्टी न देकर बड़ी मामी के सहायतार्थ छोड़ गयी थी । गर्मी का मौसम था । रसोईदारिन माँ के (पुराने) घर के दरवाजे के सामने बरामदे में मसहरी लगाकर सोयी हुई थी । उसने स्वप्न में देखा कि माँ एक हाथ में फूल की टोकरी और दूसरे हाथ में पानी का घड़ा लिए हुए स्नान करके लौट रही हैं । आकर वे कह रही हैं, "उठो, यहाँ से उठो!" इसके बाद उसने देखा कि वे द्वार से लगकर सोने के कारण उसे डाँट रही हैं । रसोईदारिन का यह वर्णन समाप्त हो जाने पर माँ ने हँसते हुए कहा, "सुनो, कौन जाने बेटा, यह क्या कह रही है!"

एक दिन बातचीत के दौरान मैंने कहा था, "माँ, गृहस्थी में रह कर कोई काम नही होता ।" इसके उत्तर में वे बोलीं, "बेटा, यह संसार एक महा-दलदल है । इसमें फँस जाने से निकल पाना मुश्किल है । जब ब्रह्मा-विष्णु तक इसमें चक्कर खा जाते हैं, तो मनुष्य की क्या बात है! उनके नाम का जप करना । उनका नाम जपते जपते एक दिन वे ही इसमें से निकाल देंगे । उनके निकाले बिना क्या उद्धार हो सकता है, बेटा? उनमें खुब विश्वास रखना । संसार में जैसे माँ-बाप बच्चों के आश्रय स्थल होते हैं, वैसे ही ठाकुर को समझना ।"

एक दिन भगवान पर विश्वास के विषय में चर्चा चली । माँ ने कहा, "बेटा, केवल पढ़ने से ही क्या विश्वास होता है? ज्यादा पढ़ने से मन उलझ जाता है । ठाकुर कहते थे, 'शास्त्र पढ़कर इतना ही जान लेना चाहिए कि जगत् मिथ्या और वे ही सत्य हैं ।' मान लो मैंने तुम्हें पत्र लिखा कि तुम यह यह चीज लेते आना । उस चिट्ठी की कब तक जरूरत है? तभी तक न, जब तक कि तुम जान नहीं लेते कि उसमें क्या लिखा है । जानकारी मिल जाने पर फिर चिट्ठी की क्या आवश्यकता? इसके बाद तो तुम उन चीजों को लाकर मेरे साथ भेंट करोगे । नहीं तो, दिन-रात चिट्ठी को पढ़ने से क्या लाभ?"

एक दिन मैंने आवेगपूर्वक कहा, "माँ, इतनों दिनों से आना-जाना कर रहा हूँ, आपकी कृपा भी मिली, तो भी कुछ क्यों नहीं हो रहा है? मुझे तो लगता है कि मैं पहले जैसा था, वैसा ही हूँ ।"

उत्तर में माँ बोलीं, "बेटा, यदि तुम एक खाट पर सोये रहो, और कोई तुम्हें उस खाट-समेत उठाकर कहीं अन्यत्र ले जाय, तो क्या नींद खुलते ही तुम समझ सकोगे कि कहीं और आ पहुँचे हो? जब खूब अच्छी तरह तुम्हारी नींद टूट जायेगी, तब देखोगे कि तुम कहीं अन्यत्र आ पहुँचे हो ।"[२]

एक बार मैं बेलूड़ मठ में उत्सव देखने के लिए घर से निकलकर मार्ग में कुछ कार्यवश मेदिनीपुर में उतर गया था । इस कारण उस दिन रात की गाड़ी न मिल पाने से मुझे एक दिन ठहरकर जाना पड़ा । संध्या को कलकत्ते पहुँचकर मैं माँ के दर्शन करने गया । माँ मुझे देखते ही बोलीं, "उत्सव देखा तो?" मैंने, "नहीं माँ, उत्सव नहीं देख सका" – कहकर रास्ते की घटना बतायी । सुनकर माँ ने कहा, "चाहे जैसे भी हो पहले उद्देश्य पूरा कर लेना चाहिए । यही देखो न बेटा, तुम इतना सब देखने से चूक गये । पहले का काम पहले करना चाहिए ।" इसके बाद वे बोलीं, "कल यहाँ आकर

१. क्षण अर्थात् अनुकूल समय । कार्य की सफलता के बारे मे एक बार माँ ने कहा था – जो न होवे धन से जन से, वह होता है क्षण के गुण से ।

२. माँ कहती थीं, "मुझे जो करना था, उसे मैंने एक बार (दीक्षा के समय) कर दिया है । तथापि यदि तत्काल शान्ति चाहते हो, तो साधन-भजन करो, अन्यथा देहान्त के समय होगा ।"

ठाकुर का प्रसाद पा लेना।''

भोजन के सम्बन्ध मे माँ कहा करती थीं, "जब भी जो कुछ खाना, उसे भगवान को अर्पित करके प्रसाद के रूप में ही ग्रहण करना। ऐसा करने से रक्त शुद्ध होगा और रक्त शुद्ध होने पर मन भी शुद्ध होगा।''

एक दिन किसी कारणवश माँ अपने भाइयों पर नाराज थीं। उसी समय जा पहुँचने पर उन्होंने हम लोगों को उसी सन्दर्भ में दो-एक कहानियाँ बताने के बाद कहा, "बेटा, ये लोग केवल रुपया, रुपया कहकर ही मर रहे हैं! – केवल 'रुपये दो, रुपये दो' करते हैं। भूलकर भी कभी ज्ञान-भक्ति नहीं माँगते। जो माँगते हैं, वही पायेंगे!''

जयरामबाटी में अन्तिम बीमारी होने के पिछले वाली बार माँ जब भयानक बुखार से कष्ट पा रहीं थी, उसी समय एक दिन मैं उनकी चरण सेवा कर रहा था। तब माँ ने कहा था, "देखो बेटा, कितने दिनों से पुकार रही हूँ, पर कोई सुन नहीं रहा है; कितना रो रही हूँ, तो भी कोई नहीं आया। आखिरकार आज माँ जगद्धात्री आयी थीं, परन्तु उनका मुख ठीक मेरी माँ के मुख के समान था। अब मेरी बीमारी दूर हो जायेगी। एक बार और बचपन में दक्षिणेश्वर जाते समय मुझे खूब बुखार चढ़ आया था। जरा भी होश नहीं था। उसी अवस्था में देखा कि एक काली-कलूटी महिला धूल-भरे पाँव लिए मेरे बिस्तर के किनारे बैठी मेरे सिर पर हाथ फेर रही हैं। पाँवों में धूल देखकर मैंने पूछा, 'माँ, क्या किसी ने तुम्हें पाँव धोने को जल नहीं दिया?' वह बोली, 'नहीं बेटी, मैं अभी चली जाऊँगी। तुम्हें देखने आयी हूँ। डर क्या है? अच्छी हो जाओगी।' इसके अगले दिन से मैं क्रमश: स्वस्थ हो उठी। परन्तु इस बार बेटा, बहुत कष्ट हुआ है; बहुत पुकारने के बाद ही आज दर्शन मिला है। इस बार भी मैं ठीक हो जाऊँगी। भय क्या है बेटा, उन्हें पुकारने से ही वे आकर सब विषयों में तुम्हारी रक्षा करेंगे।'' ❖ **(क्रमश:)** ❖

श्रीरामकृष्ण-शिष्या गौरी-माँ

स्वामी श्रुवेशानन्द, रामकृष्ण मिशन आश्रम, लखनऊ

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है – हे अर्जुन! प्रत्येक युग में जब-जब धर्म की ग्लानि तथा अधर्म का प्राबल्य होता है, तब तब साधुगणों की रक्षा, दुष्टों के विनाश तथा धर्म की स्थापना हेतु मैं शरीर धारण करके अवतीर्ण होता हूँ।

प्राचीन इतिहास पढ़ने पर हम देखते हैं कि जब जब पृथ्वी से धर्म का ह्रास हुआ है, तब तब भारतवर्ष में किसी दैवी शक्ति ने आविर्भूत होकर सामाजिक जीवन में आयी गिरावट को दूर करके धर्म को पुनर्स्थापित किया है। भारत को पुण्यभूमि कहते हैं, क्योकि इस देश में ऐसे सहस्रों महापुरुषों ने जन्म लिया है, जिन्होने न केवल इस देश के नगरों, वनों तथा पर्वतों में तपस्या करके स्वयं ईश्वरोपलब्धि की, अपितु शेष दुनिया के लोगों के लिए भी आदर्श पथ का निर्धारण किया। इन महापुरुषों के पुण्य-स्पर्श से भारतीय उपमहाद्वीप में जगह जगह सैकड़ों तीर्थो का उद्भव तथा विकास हुआ है। यही कारण है कि एक आम भारतवासी में भी धर्मप्राणता दृष्टिगोचर होती है। स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि जैसे पाश्चात्य देशों के सभी लोग स्वयं को वहाँ के मध्ययुगीन दस्युयों के वंशधर के रूप में प्रचारित करके गौरव का बोध करते हैं, वैसे ही भारत के सिंहासनारूढ़ सम्राट् तक अपने को बल्कलधारी, फल-मूलभोगी, ब्रह्मपरायण अरण्यवासी अकिंचन ऋषियों के वंशधर मानकर गर्व का अनुभव करते आये हैं।

भारतवर्ष पर विदेशियों के बारम्बार आक्रमण हुए, अनेक शताब्दियों तक यहाँ उनका राज्य भी चला और इसके साथ ही उन्होंने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के समूल नाश का भी भरसक प्रयास किया। अनेकों बार यह पुण्यभूमि भयावह रूप से मानव-रक्त से रंजित हुई, पर संकीर्ण आततताइयों की सारी चेष्टाओं के बावजूद हिन्दू धर्म समाप्त नहीं हो सका। सहज ही देखने में आता है कि भारत के राष्ट्रीय आदर्शों की धारा वैदिक काल से अब तक अटूट रूप से प्रवाहित होती आ रही है।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में जब भारत में एक बार पुन: पाश्चात्य भावों का प्रवेश आरम्भ हुआ, तब पाश्चात्य आक्रान्ताओं ने हाथ में तलवार लेकर ऋषि-सन्तानों के सम्मुख यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि भारतवासी हिन्दू एक बर्बर तथा स्वप्नमुग्ध जाति मात्र है, उनका धर्म केवल पौराणिक कथाओं तक सीमित है और जिन ईश्वर, आत्मा आदि को पाने का ये प्रयास करते रहे हैं, वे निरर्थक शब्द मात्र हैं। ये लोग निरे मूर्तिपूजक हैं, अन्धविश्वासी हैं और सहस्रों वर्षों से ये लोग जिस त्याग-वैराग्य का अभ्यास करते आये हैं, सब वृथा है।

इस प्रकार तलवार तथा बन्दूक की सहायता से अपने-अपने धर्म की सत्यता प्रमाणित करने में समर्थ पाश्चात्य-जाति ने अपने कुतर्कों के सहारे भारतीय सामाजिक व्यवस्था पर कुठाराघात करना आरम्भ कर दिया।

पाश्चात्य प्रणाली के अनुसार परिचालित विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालयों में पढ़कर युवक-युवती भारत-विषयक पाश्चात्य विचारों से प्रभावित तथा अनुप्राणित होने लगे। उनके मन में हिन्दू धर्म की सत्यता पर सन्देह जगने लगा। इस युवा पीढ़ी ने वस्तुत: बिना सत्यापन किये ही पश्चिमी विचारों को सत्य मानकर अपनाना शुरू कर दिया। इस प्रकार धर्म की ग्लानि एवं अधर्म का अभ्युत्थान चरम सीमा को छूने लगा। इसके फलस्वरूप अंग्रेजी-शिक्षितों में एक ऐसी विचारधारा का सूत्रपात हुआ, जिसका संकल्प था कि वेद-पुराण, धर्म-दर्शन आदि शास्त्रों को आग में झोंक डालना होगा और मन्दिरों आदि को तोड़कर समाप्त कर देना होगा।

परन्तु सनातन हिन्दू धर्म कभी नष्ट होनेवाला नहीं है। इसने बारम्बार मृत्यु पर विजय पायी है। भारत में जब भारतीय धर्म-समाज-दर्शन के विरुद्ध तरह तरह की चेष्टा चल रही थी, तभी १८३६ ई० के १७ फरवरी को बंगाल के हुगली जिले के कामारपुकुर गाँव में भगवान श्रीरामकृष्ण का आविर्भाव हुआ। श्रीरामकृष्ण द्वारा प्रेरित शक्ति ने स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से न केवल भारत में धर्म को अक्षुण्ण रखा, अपितु लगभग पूरे संसार में सर्वत्र इसे प्रचारित भी किया।

अवतारी पुरुष जब धर्म की स्थापना के लिए आते हैं, तो वे साथ में अपने पार्षदों को भी ले आते हैं। श्रीरामकृष्ण देव भी अपनी शक्ति-स्वरूपिणी माँ सारदा देवी; स्वामी विवेकानन्द, स्वामी ब्रह्मानन्द आदि पुरुष-पार्षद तथा गौरी-माँ, गोलाप-माँ, योगीन-माँ आदि महिला-पार्षदों को भी साथ लेकर धराधाम पर आये थे। जहाँ स्वामी विवेकानन्द आदि ने श्रीरामकृष्ण देव की दिव्य शाश्वत वाणी का देश-विदेश में प्रचार किया तथा आम जनता की उन्नति के लिए अथक प्रयास किया, वहीं गौरी-माँ ने अपना समृद्ध विरासत भूल रहीं भारतीय नारियों में अपनी परम्परा के प्रति श्रद्धा तथा आत्मविश्वास जगाकर उन्हें प्राणवन्त बनाने हेतु अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया।

महर्षि मनु ने कहा है, "**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः** – जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है अर्थात् जहाँ उनका सम्मान होता है, वहीं ईश्वर की कृपा बरसती है।" स्वामी विवेकानन्द ने एक पत्र में लिखा था, "जैसे एक पंख से पक्षी उड़ नही सकता, उसी प्रकार जब तक स्त्रियों का अभ्युदय नहीं होता, तब तक जगत् का कल्याण असम्भव है, इसीलिए श्रीरामकृष्ण अवतार में स्त्रीगुरु का ग्रहण, नारी-भाव का साधन तथा मातृभाव का प्रचार हुआ। पहले स्त्री मठ की स्थापना के लिए मेरे प्रयास का यही कारण है। उक्त मठ गार्गी, मैत्रेयी एवं तदपेक्षा उच्चतर भावापन्न नारियों की खान के सदृश होगा।"

एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा है, "शाक्त का अर्थ जानते हो? शाक्त माने भाँग-मदिरा नहीं, बल्कि शाक्त वे हैं, जो ईश्वर को पूरे जगत् में विराजित महाशक्ति के रूप में जानते हैं तथा समग्र स्त्री-जाति में उसी महाशक्ति का विकास देखते हैं।"

अमेरिकी महिलाओं के सम्बन्ध में स्वामीजी का मत था – "इस देश की महिलाओं जैसी महिलाएँ संसार भर में नहीं है। ये कितनी पवित्र, स्वावलम्बी और दयावती हैं। महिलायें ही इस देश का सर्वस्व हैं। शिक्षा, संस्कृति सब उन्हीं में केन्द्रित है। **या श्रीः स्वयं सुकृतिनां भवनेषु लक्ष्मी** – जो पुण्यात्माओं के घरों में स्वयं लक्ष्मीरूपिणी हैं – इसी देश पर लागू है। यहाँ की बर्फ-सी धवल शुद्ध मनवाली हजारों नारियाँ हैं। कैसी पवित्र हैं ये! २५-३० वर्ष के नीचे किसी का विवाह नहीं होता; और हमारे देश में १० वर्ष से पहले ही वे बच्चों की माँ बन जाती हैं। मैं अब समझ रहा हूँ। अरे भाई, हम महापापी हैं, स्त्रियों को 'घृणित-कीट, नरक की द्वार' आदि कहकर ही हम अध:पतित हुए हैं।"

जैसे वैदिक-युग में ब्रह्मवादिनी गार्गी नारी-जाति की आदर्श थीं, वैसे ही वर्तमान युग में गौरी-माँ भी जगद्गुरु श्रीरामकृष्ण से शिक्षा-दीक्षा पाकर भारतीय नारी की सर्वांगीण उन्नति के लिए जीवन देकर भविष्य के लिए एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत कर गयीं।

स्वामी विवेकानन्द ने अपने कई पत्रों में गौरी-माँ के लिए उच्च प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। यथा, एक जगह वे लिखते हैं, "हमारी माताएँ सकुशल तो हैं? गौरी-माँ कहाँ हैं? हजारों गौरी-माताओं की आवश्यकता है, जिनमें उन्हीं के समान महान् तेजोमय भाव हो।" एक अन्य पत्र में है, "कृपया यह पत्र गौरी-माँ, योगेन-माँ आदि को दिखा देना और उनके द्वारा स्त्रियों का मठ स्थापित करवाना। एक वर्ष के लिए गौरी-माँ को उसका अध्यक्ष बनने दो।" केवल इतना ही नहीं, स्वामीजी गौरी-माँ को अमेरिका ले जाकर वहाँ के लोगों को यह दिखाना चाहते थे कि अब भी भारत में कैसी महिलाओं का जन्म होता है; परन्तु गौरी-माँ स्वदेश छोड़कर विदेश में जाने को तैयार नहीं हुई।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों हिन्दू बालिकाओं की शिक्षा हमारे सामाजिक जीवन की एक प्रधान समस्या बन गई थी। लगता है कि इस समस्या का हल करने हेतु ही गौरी-माँ ने उपयुक्त समय पर जन्म ग्रहण किया था। बालिकाओं की शिक्षा तथा चरित्र-गठन के लिए उन्होंने श्री सारदेश्वरी आश्रम तथा नि:शुल्क हिन्दू बालिका विद्यालय की स्थापना की थी। इस संस्था के पीछे उनके ध्येय तथा कार्य-प्रणाली को समझने के लिए सर्वप्रथम उनकी अद्भुत जीवनी के माध्यम से उनके असाधारण व्यक्तित्व के विकास को देखना आवश्यक है।

गौरी-माँ विभिन्न कालों में विभिन्न व्यक्तियों के द्वारा विभिन्न नामों से परिचित हुई थीं। ठाकुर श्रीरामकृष्ण तथा श्री माँ के

लिए वे गौरदासी थीं । स्वामी विवेकानन्द के पत्रों में उनका 'गौरी-माँ' नाम देखने को मिलता है । उनके संन्यास का नाम 'गौरीपुरी' था । इसी कारण सामान्यत: वे गौरी-माँ के नाम से परिचित हुईं । अपने भक्तों में वे 'माताजी' के रूप में जानी जाती थीं और पितृगृह में उनका नाम मृड़ानी या रुद्राणी था । प्रेम से कोई कोई उन्हें 'मान्तु' या 'मेज' भी कहते थे ।

महापुरुषों के जीवन का अनुशीलन करने पर प्राय: यह देखने में आता है कि उनके माता-पिता कर्तव्यनिष्ठ तथा धर्मप्राण होते हैं । गौरी-माँ भी इसकी कोई अपवाद न थीं । मृड़ानी के पिता पार्वतीचरण चट्टोपाध्याय काली के परम भक्त, तेजस्वी तथा एक निष्ठावान ब्राह्मण थे । वे पूजा-अर्चना करने के बाद खिदिरपुर में स्थित एक व्यावसायिक दफ्तर में अपने कार्य पर जाते थे । पार्वतीचरण के कपाल पर चन्दन का तिलक देखकर दफ्तर के साहब कभी कभी उपहास किया करते थे । इस पर पार्वतीचरण कहते, "मैं नौकरी छोड़ सकता हूँ, पर धर्माचरण कदापि नहीं छोड़ सकता ।"

उनकी माता गिरिबाला बँगला तथा संस्कृत साहित्य में पारंगत थीं और उन्होंने अनेक स्तोत्रों तथा भजनों की रचना करके 'नामसार' एवं 'वैराग्य संगीत-माला' नामक पुस्तकें रची थीं । वे एक सुगयिका तथा अद्भुत गुण-सम्पन्न साधिका थीं । उन्होंने श्रीरामकृष्ण तथा श्री माँ के भी दर्शन किये थे । एक बार श्रीरामकृष्ण ने भी उनके घर में पदार्पण किया था । श्री सारदादेवी का दर्शन करते ही वे "माँ, तुम तो मेरी अपनी माँ हो" कहकर उनके चरणों में लोट गयी थीं । गिरिबाला देवी द्वारा रचित एक भजन में उनका थोड़ा-सा परिचय प्रस्फुटित हो उठा है । भजन की पंक्तियों का भावार्थ निम्नलिखित हैं –

"हे मुक्तकेशी माँ, मैं तुमसे मुक्ति नहीं चाहती, बल्कि भक्ति की अभिलाषिनी हूँ । विपत्ति हो या सम्पत्ति, दिन-रात तुम्हारे चरणों में ही मेरा मन लगा रहे । मुझे स्वर्ग में भी क्या सुख और नरक में भी क्या दुख; मैं तो सर्वदा तुम्हीं को हृदय में रखकर निरन्तर आनन्द में मग्न रहना चाहती हूँ ।"

जगदम्बा के ध्यान में निमग्न गिरिबाला ने एक रात स्वप्न में देखा कि महामाया एक ज्योतिर्मयी तथा रूप-लावण्यमयी देवकन्या को उनके हाथों में सौंप रही हैं । उन्होंने भी मंत्रमुग्ध के समान अपने दोनों हाथ फैलाकर उस देवकन्या को गोद में उठाकर हृदय से लगा लिया और क्षण भर के लिए सब कुछ भूल गयी । इसके कुछ काल बाद ही मृड़ानी का जन्म हुआ । शायद यह १८५७ ई. की बात है; मास-दिनांक अज्ञात है।

महापुरुषों के जीवन से यह भी ज्ञात होता है कि सामान्यत: उनके माता-पिता या उनमें से किसी एक को देव-निर्देश से ज्ञात हो जाता है कि उनके वंश में शीघ्र ही किसी दैवीशक्ति से सम्पन्न सन्तान का जन्म होगा । भगवान बुद्ध, श्रीरामकृष्ण, ईसा मसीह, स्वामी विवेकानन्द, शंकराचार्य आदि अवतारों तथा आचार्यों के जीवन में ऐसा ही देखने को मिलता है ।

अति बाल्यकाल से ही मृड़ानी के जीवन में स्वत:स्फूर्त धर्मस्पृहा एवं वैराग्य का निरन्तर तथा उत्तरोत्तर विकास हो रहा था । वह बचपन से ही स्वेच्छया पूजा आदि में रत रहा करती थी । रोते समय किसी देवता का नाम सुनाये जाने पर वे शान्त हो जाती और किसी भिक्षुक को देखते ही उसे कुछ-न-कुछ दिये बिना शान्त नहीं होती । किसी से कोई वस्तु लेने का वह हठ नहीं करती । अपने ऐहिक जीवन के अन्त तक वे खेल, आहार या वेशभूषा आदि में कभी आसक्त नहीं हुईं । उन्हें जो भी मिल जाता, उसी में सन्तोष कर लेतीं । एक बार अपने बड़े भाई के साथ नौका-भ्रमण करते हुए उनके मन में आया, "गहने आदि व्यर्थ हैं । इसके बिना क्या मुझे कष्ट होगा?" उन्होंने तत्काल अपने हाथ से सोने के कंगन निकाले और दाँतों से चबाकर देखा कि उनमें कोई स्वाद नहीं है । अत: दूसरों से छिपाकर उन्होंने उसे गंगा में फेंक दिया । वैसे घर लौटने के बाद उन्हें इसके लिए डाँट खानी पड़ी थी । परन्तु इस घटना से उनमें निहित वैराग्य झलक उठता है ।

मृड़ानी के एक वृद्ध सम्बन्धी चण्डीमामा एक साधुचरित व्यक्ति थे और उसके प्रति बड़ा स्नेह रखते थे । एक दिन अन्य बालिकाओं के साथ मृड़ानी का भी हाथ देखकर उन्होंने कहा था, "मृड़ानी योगिनी होगी ।" वैसे घर के लोगों को उनकी यह भविष्यवाणी अच्छी नहीं लगी होगी; पर समय की कसौटी पर यह सर्वथा खरी साबित हुई । मृड़ानी चण्डीमामा के मुँह से उनके तीर्थ-भ्रमण की कहानियाँ सुनना बड़ा पसन्द करती थी ।

श्रीरामकृष्ण देव के साथ मृड़ानी की प्रथम भेंट तथा उनसे दीक्षाप्राप्ति एक अद्भुत घटना है । मृड़ानी उस समय लगभग १० वर्ष की थीं । एक दिन प्रात: वह भवानीपुर में क्रीड़ारत समवयस्कों के साथ न मिलकर, उस विराट् मैदान के एक किनारे चुपचाप बैठी थी । तभी अपनी इच्छा से भ्रमण करते हुए आजानुबाहु उदारदृष्टि-सम्पन्न यज्ञोपवीतधारी एक ब्राह्मण महापुरुष ने उनके समीप आकर पूछा, "सब लोग खेल रहे हैं और तू यहाँ चुपचाप अकेली क्यों बैठी है?" बालिका ने ब्राह्मण से चरणों में प्रणत होकर उत्तर दिया "ये सब खेल मुझे नहीं रुचते ।" इतना कहते ही उसका हृदय एक अनिर्वचनीय भाव से अभिभूत हो गया । उसे महसूस हुआ कि यह पथिक कितना अपना है! मानो जन्म-जन्मान्तर का सुपरिचित हो । पथिक ने उसके सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद दिया, "श्रीकृष्ण में भक्ति हो ।" बालिका ने तत्क्षण उनका पता ले लिया । कुछ दिनों बाद दक्षिणेश्वर के निकटवर्ती निमतेखोला में स्थित एक कुटिया में उसने उन पूर्वपरिचित पथिक को ढूँढ़ निकाला । उस समय वे एक आसन पर बैठे थे, उनकी दोनों आँखें ध्यान

में डूबी थीं, शरीर निस्पन्द था, मुखमण्डल तप्त ताम्रभाण्ड के समान दीप्त था और कुटीर का कोना कोना मानो उस ज्योति से आलोकित हो रहा था। मृड़ानी यह देखकर विस्मित, मुग्ध तथा स्तम्भित हो गई, वह उन्हें प्रणाम करके मन्त्रमुग्ध सर्प-सी एक ओर पड़ी रही। ध्यान टूटने पर वे उसे देखकर हँसते हुए बोले, "तू आ गयी?" इसके बाद उन्होंने समीप के गाँव में एक ब्राह्मण परिवार में उनके रहने की व्यवस्था कर दी। दूसरे दिन भोर में उनके आदेशानुसार गंगास्नान कर आने पर उन्हें दीक्षा मिल गयी। वह रासपूर्णिमा का दिन था। इधर घर के लोग बालिका को लापता देखकर चारों ओर ढूँढ़ने लगे। समाचार पाकर मृड़ानी के बड़े भाई अविनाशचन्द्र के आने पर साधक ने उन्हें शान्त करते हुए कहा, "देखो बेटा, यह छोटी बालिका है, इसे तुम लोग डाँटना मत, परन्तु पीले पक्षी (एक प्रकार का पक्षी) को घर में रोककर रख पाना मुश्किल है।"

विषम परिस्थिति में फँसकर मृड़ानी एक बार साधक की ओर और एक बार अपने भाई की ओर देखने लगी। दोनों आकर्षणों के बीच वे जिज्ञासु चित्त के साथ अपने मन से पूछने लगीं – मैं आपकी शिष्य तथा शरणागत हूँ, मेरे लिए जो निश्चित रूप से श्रेयस्कर हो, वह आप मुझे कहिए –

यत् श्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

साधक हँस करके बोले, "अभी चली जाओ बेटी! गंगा के तट पर फिर मिलेंगे।"

यह स्पष्ट है कि वे साधक और कोई नहीं, स्वयं श्रीरामकृष्ण देव ही थे। इस मुलाकात के बाद उन्हें २५वर्ष की अवस्था में पुनः गुरुदर्शन हुआ था।

'विवेक-चूड़ामणि' में लिखा है – "संसार में ये तीन चीजें दुर्लभ है और ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होती हैं – मनुष्य-जन्म, मोक्ष-प्राप्ति की आकांक्षा और महापुरुष का संग।"

मृणानी को सौभाग्यवश इन तीनों की ही प्राप्ति हुई थी। उनके मन की स्वाभाविक गति भगवन्मुखी थी। बचपन से ही वे काली की भक्त थीं; नित्य पूजा-अर्चना करती थीं तथा नींद टूटने पर भी देवी का नाम लेती रहती थीं। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण तथा चैतन्यदेव के प्रति भी उनमें भक्ति थी, विशेषतः चण्डीमामा से महाप्रभु के प्रेम तथा वैराग्य की बातें सुनकर उन्हें अपने मन में गम्भीर आनन्द एवं अनुप्रेरणा मिली थी।

ठाकुर से दीक्षा पाने के कुछ समय बाद ब्रज की एक भक्त-महिला ने आकर मृड़ानी के घर आतिथ्य स्वीकार किया था। वे महिला चिरकुमारी, अतिशय भक्तिमती तथा श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित थीं। श्रीरामकृष्ण का कथन है, "एक गँजेड़ी दूसरे गँजेड़ी को देखते ही आसानी से पहचान लेता है और आनन्दपूर्वक उसे गले लगाकर नृत्य करने लगता हैं।"

अल्प काल में ही दोनों के बीच परम घनिष्ठता हो गयी। उस ब्रजांगना के पास दामोदर नामक एक नारायण-शिला थी। उस शिला की वे जीवन्त देवता के रूप में पूजा-अर्चना करती थीं तथा उसके साथ तदनुरूप आचरण भी करती थीं। वहाँ से विदा होते समय वह शिला मृड़ानी के हाथों में सौंपते हुए वे बोलीं, "ये मेरे इहकाल तथा परकाल के सर्वस्व अतिजाग्रत देवता हैं। तुम्हारे प्रेम से ये अति प्रसन्न हैं।" बाद में हम देखते हैं कि इस अर्पण के समय से ही मृड़ानी दामोदर की पूजा में लग गईं और उन्होंने यह दृढ़ संकल्प किया – मैं इसी देवता को मन-प्राण समर्पित करके धन्य बनूँगी और इनके अतिरिक्त किसी अन्य मनुष्य का पति के रूप में वरण नहीं करूँगी। इसके बाद अपने जीवन के अन्तिम मुहुर्त तक उन्होंने जाग्रत देवता तथा चिर जीवन्त पति के रूप में दामोदर की ही सेवा की थी।

गौरी-माँ अपने आराध्यदेव को 'मृण्मय' नहीं, बल्कि 'चिन्मय' देखा करती थीं। उनके जीवन की दो-एक घटनाएँ इसका साक्ष्य देती हैं, वैसे ये उनके जीवन मैं काफी काल बाद घटित हुई थीं। एक दिन कार्य समापन के बाद गौरी माँ दोपहर को लेटी हुई थीं। परन्तु उनको किसी कारण से नींद नहीं आ रही थी। सहसा वे बोल उठीं – "ओ माँ, प्रभु को तो दूध पीने की आदत है। आज उनका दूध पीना नहीं हुआ है। इसीलिए उनको नींद नहीं आ रही है।" वे तत्काल उठकर दामोदर जी को दूध निवेदन करने चल पड़ी और वापस आकर बोलीं, "दूध पीने से उन्हें नींद आ गयी है।"

एक अन्य दिन रात को गौरी-माँ की तबियत ठीक न होने के कारण वे रसोई नहीं बना सकीं। दामोदर जी को उन्होंने कुछ फल-मिष्ठान्न का भोग लगाया। पर आधी रात के समय देखने में आया कि गौरी माँ रसोईघर में पूरियाँ तल रही हैं। पूछने पर उत्तर मिला, "एक नींद के बाद प्रभु आकर बोले कि उन्हें भूख लगी है, इसलिए यह व्यवस्था करनी पड़ी।"

एक अन्य रात भोग-निवेदन करने के बाद गौरी-माँ गाने लगीं – (भावार्थ) "माधव, हम तुमको बहुत कुछ निवेदन करते हैं, तुलसी-तिल हाथ में लेकर देह तक समर्पण कर देते, लेकिन तुम्हारी दया हम समझ नहीं पाते।"

धीरे-धीरे द्वार खोलकर आश्रमवासिनियों ने देखा कि गौरी-माँ दामोदर जी को छाती से लगाये आँसुओं से भिगो रही हैं। यहाँ हम देखते हैं कि गौरी-माँ दामोदर जी के साथ एक हो गयीं हैं – दामोदर को नींद न आने तक गौरी-माँ को भी नींद नहीं आती है; दामोदर जी के आनन्द में ही गौरी-माँ को भी आनन्द है, इसलिये माँ श्री सारदादेवी भक्तों से कहतीं, "गौरदासी ने एक पत्थर का टुकड़ा लेकर अपना जीवन बिता दिया।"

मृणानी ने कुछ दिन एक स्कूल में पढ़ाई की। अति अल्प

समय में ही उन्होंने देवी-देवताओं अनेक स्तोत्र, दुर्गा-सप्तशती, गीता, रामायण, महाभारत तथा संस्कृत व्याकरण के कई अंश कण्ठस्थ कर लिये थे। इनके गुणों पर मुग्ध होकर स्कूल की प्रतिष्ठाता कुमारी मिलमैन ने उन्हें अपने साथ इंग्लैंड ले जाने का विशेष आग्रह किया था और तत्कालीन गवर्नन जनरल की पत्नी ने मृड़ानी को सर्वोत्तम छात्रा के पुरस्कार-रूप में स्वर्णखचित बहुमूल्य पेटी भेंट की थी। मृड़ानी की बढ़ती उम्र तथा संसार के प्रति उसकी अनासक्ति को देखकर उनके अभिभावकों ने यथाशीघ्र उनका विवाह कर देने का प्रयास किया। वरपक्ष के लोग कन्या के रूप आदि की यथेष्ट प्रशंसा करने के बावजूद उनके मुख से यह सुनकर कि वे 'दुनिया में भगवान को छोड़ किसी अन्य पुरुष को पति के रूप में स्वीकार नहीं करेंगी'; या 'ऐसे वर के साथ विवाह करूँगी, जिसकी कभी मृत्यु न हो' – उसे वधू बनाकर ले जाने को सम्मत नहीं हुए। इसके बाद घरवालों ने तेरह वर्ष की मृड़ानी को उसके बहनोई भोलानाथ के हाथों में अर्पण करने का निश्चय किया। पर मृड़ानी ने तो किसी मनुष्य से विवाह न करने की प्रतीज्ञा कर ली थी, अत: विवाह की रात उसने आत्मरक्षा के लिये एक कमरे में प्रविष्ट होकर द्वार को अन्दर से बन्द कर लिया और सभी के अनुनय-विनय के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। प्रथम लग्न में विवाह न हो पाने पर सबने निश्चय किया कि जैसे भी हो द्वितीय लग्न में करना ही होगा। तब गिरिबाला बिना किसी को बताये कन्या के द्वार पर आकर मृदु स्वर में धीरे धीरे बोलीं, "मन्नू, मेरी प्यारी बिटिया, हम पर विश्वास कर और दरवाजा खोल दे।" द्वार खोलकर मृड़ानी ने माँ को जकड़ लिया और रोते हुए बोली, "माँ, मैं मनुष्य से विवाह नहीं करूँगी।"

गिरिबाला कन्या को समझा-बुझाकर विवाह के लिये राजी कराने आयी थी, परन्तु कन्या की अवस्था देखकर वह सोचने लगीं, "तो क्या मेरी बेटी आत्महत्या कर लेगी? कुलीनों घर की कन्या है, शादी न भी हुआ तो क्या!"

ऐसा निश्चय कर लेने के बाद वे पुत्री से बोलीं, "ठीक है, हमने तुझे भगवान के श्रीचरणों में समर्पित किया। वे ही सभी आपदा-विपदाओं से तेरी रक्षा करेंगे।"

इसी के अनुसार जननी ने निर्दिष्ट लग्न में अजर-अमर, जगत्स्वामी के चरणों में अपनी कन्या को अर्पित कर दिया। निराशा की महानिशा में बालिका ने अप्रत्याशित रूप से मुक्ति-पथ का आलोक देखा और अपने प्राण-देवता दामोदर को लेकर माँ के निर्देशानुसार अपनी एक मौसी के घर आश्रय लेकर समस्त विरोधी जनों से अपनी रक्षा की।

गिरिबाला ने तत्कालीन समाज का सामना करते हुए अपने पति तथा पुत्र के अजाने ही अपनी पुत्री को जो राह दिखा दी, वह अकल्पनीय है। ऐसे ही एक दिन राजमहिषी सुनीति ने अपना मातृहृदय शून्य करके अपने इकलौते पुत्र ध्रुव को गहन वन के पथ में छोड़ दिया था; तत्त्वदर्शिनी रानी मदालसा ने भी एक एक कर अपने तीनों पुत्रों को पति के अनजाने में ही प्रव्रज्या हेतु भेज दिया था। ऐसी ही अनेक घटनाएँ हिन्दू धर्म के इतिहास में दृष्टिगोचर होती है। अस्तु, मृड़ानी को न पाकर सबने प्रचारित कर दिया कि विवाह ठीक समय पर ही हो गया था और कन्या उसके बाद ही भागी है। फिर दो-चार दिनों के भीतर ही मृड़ानी को घर वापस लाया गया।

ठाकुर कहते थे, "निर्जन में साधना करनी चाहिए।" और "तीव्र वैराग्य होने पर संसार तथा सगे-सम्बन्धी सब कालसर्प जैसे लगते हैं।" मृड़ानी को भी ऐसा ही लगने लगा। अत: एक दिन भोर में वह गृहत्याग कर चल दी, पर अनभ्यस्त होने के कारण ज्यादा दूर तक अग्रसर नहीं हो सकी। सम्बन्धीगण उसे पकड़कर घर वापस ले आये और नजरबन्द कर दिया।

इस मुक्तिकामी बालिका को गृह में पकड़कर रखने के लिए बीच-बीच में उसे तीर्थदर्शन एवं साधु दर्शन का सुयोग देना जरूरी समझकर उनके घरवाले उनको कालना, नवद्वीप आदि तीर्थों का भ्रमण तथा साधु-दर्शन कराने ले जाते थे। अट्ठारह वर्ष की आयु में एक बार उनके घर के लोग उसे सागर-संगम का मेला दिखाने ले गये। मेले के भीड़भाड़ में मौका देखकर वे छिप गयीं और उत्तरी भारत के संन्यासी तथा संन्यासिनियों के एक दल के साथ एक पहाड़ी महिला के वेश में वहाँ से हरिद्वार की ओर चल दीं। साधुसंघ में वह गौरीमाई के नाम से परिचित हुई। इसके पश्चात् उन्होंने हिमालय तथा अन्य नाना तीर्थों में तप-साधना की। कभी दुरारोह पर्वत शिखर पर, कभी खर-स्रोता गिरि निर्झरिणी के प्रवाह में और कभी ठगों-चोरों-बदमाशों के बीच से होकर जिस प्रकार वे ईश्वर-विश्वास, प्रत्युत्पन्नमति तथा अदम्य साहस के साथ आत्मरक्षा करते हुए अग्रसर हुईं, वह महिला-कुल के लिये विस्मयबोधक एवं शिक्षाप्रद है। कभी वे प्रात:काल से संध्या तक तपस्या करने बैठ जाती थीं, इस कारण कभी कभी माधुकरी के लिये बाहर नहीं जा पाती थीं; परन्तु ऐसे समय उन्हें भूख से कष्ट नही उठाना पड़ता था और कोई व्यक्ति उनके अनजाने ही आकर भोज्य-सामग्री सामने रख जाता था। वे क्षुधा-पिपासा, विपदा-आपदा और हर प्रकार की संकटजनक अवस्था में अविचलित तथा उदासीन मनोभाव बनाये रखती थीं। गीता में है –

अनन्याश्चितयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥ ९/२२

– जो लोग अनन्य भाव से मेरे भजन द्वारा जो लोग ध्यान में लगे रहते हैं, ऐसे नित्य-उपासनारत भक्तों के योगक्षेम अर्थात् अप्राप्त वस्तुओं की प्राप्ति तथा प्राप्त की रक्षा का सारा दायित्व मैं स्वयं ही वहन करता हूँ। ❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

आचार्य रामानुज (९)

स्वामी रामकृष्णानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अमेरिका से वापस लौटने पर मद्रास नगर की जनता ने उनसे हार्दिक अनुरोध किया कि उस प्राचीन नगरी में भी अपने युगधर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ करें। इसी के उत्तर में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी रामकृष्णानन्द को वहाँ भेजा। उन्होंने वहाँ की स्थानीय आध्यात्मिक परम्परा से देशवासियों का परिचय कराने के लिए सद्य:प्रकाशित बँगला मासिक 'उद्बोधन' के लिए श्री रामानुजाचार्य के जीवन पर एक लेखमाला लिखी, जो बाद में पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुई। 'विवेक-ज्योति' के पाठकों का भी इन प्रात:स्मरणीय महापुरुष के जीवन तथा भावधारा से परिचय कराने हेतु हम इसके हिन्दी अनुवाद का धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

४. व्याध दम्पत्ति

गोविन्द के मुख से वह हृदयविदारक, भयानक व अशुभ समाचार सुनकर रामानुज क्षण भर के लिये तो किंकर्तव्यविमूढ़ रह गये। जगत् उन्हें अन्धकारमय प्रतीत होने लगा। क्षण भर बाद उन्होंने देखा कि उनके प्रिय मित्र गोविन्द भी उन्हें छोड़कर तेज कदमों के साथ यादव के शिष्यों में मिल जाने के लिये चले जा रहे हैं। रात होने में बस आधे घण्टे की देरी थी। उस निर्जन वन में एकाकी तथा नि:सहाय १८ वर्षीय रामानुज क्या करें, यह निश्चित नही कर पाए। पहले तो उन्होंने सोचा – गोविन्द को पास बुलाऊँ, फिर विचार आया कि इससे बाकी शिष्य भी जान जाएँगे। गोविन्द धीरे धीरे चलकर वृक्षों के पीछे अदृश्य हो गये। तभी उनमें एक अभूतपूर्व ओज का संचार हुआ और भीतर से मानो कोई कह उठा, "भय कैसा? नारायण तो हैं ही।"

रामानुज ने अब विलम्ब न करके अपने दस्यु-स्वभाव सहपाठियों से बचने के लिये मार्ग छोड़ दिया और दक्षिण की ओर के गहन वन में प्रवेश किया। एक बार भी पीछे मुड़कर देखे बिना ही वे लगातार तेजी के साथ दो प्रहर (छह घण्टे) चलते रहे। बीच बीच में मानो कोई उनका नाम लेकर उच्च स्वर में पुकार रहा था, जिसे सुनकर उनकी गति और भी बढ़ जाती थी। आखिरकार भूख, प्यास तथा थकान से अचल होकर वे एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। बैठने में भी कष्ट हो रहा था, अत: वे लेट गये और सर्वसन्ताप-हारिणी निद्रादेवी की गोद में जाकर सब भूल गये। जागने पर पता चला कि अपराह्न हो चुका है और निशानाथ अस्ताचल की ओर उन्मुख हैं। उनमे भूख तथा थकान का नामो-निशान तक न था और शरीर में काफी बल का बोध हो रहा था। उन्होंने त्रितापहारी हरि को हृदय से धन्यवाद दिया।

हाथ-पाँव तथा मुख धोने के बाद रामानुज सोच रहे थे कि अब वे किस ओर जाएँ। तभी उन्होंने देखा कि एक व्याध-दम्पत्ति उन्ही की ओर चला आ रहा है। निकट पहुँचकर व्याध की पत्नी ने उनसे पूछा, "बेटा, तुम इस निर्जन वन में अकेले कैसे बैठे हो? क्या तुम रास्ता भूल गये हो? देखने में तो ब्राह्मण की सन्तान लगते हो, तुम्हारा घर कहाँ है?"

रामानुज बोले, "मेरा घर यहाँ से बहुत दूर है। क्या तुमने दक्षिण देश के कांचीपुर का नाम सुना है? वहीं।"

यह सुनकर व्याध ने कहा, "दस्युओं से आक्रान्त इस भयानक वन में तुम कैसे आए? यहाँ से तो दिन में भी कोई यात्रीदल गुजरने का साहस नहीं जुटा पाता। इसके अतिरिक्त यहाँ हिंस्र जन्तु भी सर्वदा निर्भयतापूर्वक घूमते रहते हैं। कांचीपुर को मैं जानता हूँ। हम लोग भी उसी ओर जा रहे हैं। इस भयानक जंगल में तुम्हें एकाकी देखकर हम तुम्हारी खोज-खबर लेने चले आए।"

रामानुज ने पूछा, " तुम्हारा घर कहाँ है और तुम किस हेतु कांचीपुर जा रहे हो?"

व्याध कहने लगा, "विन्ध्याचल के पादप्रदेश में स्थित किसी वन्य ग्राम में मेरा जन्म हुआ था। आजीविका के लिए हमने व्याध के रूप में नृशंसतापूर्वक पूरा जीवन बिताया है – यह सोचकर हम दोनों पारलौकिक कल्याण के लिए तीर्थ-दर्शन को निकले हैं। हमारी कांचीपुर होते हुए रामेश्वरम् जाने की इच्छा है। अच्छा हुआ कि तुम्हारे समान सत्पुरुष का संग मिल गया। लगता है तुम रास्ता भूल गये हो। परन्तु डरने की बात नहीं। सर्वजनशरण परमेश्वर मानो तुम्हारी रक्षा के लिये ही तुम्हें इस ओर ले आये हैं।"

कृष्णवर्ण, दीर्घकाय तथा लाल नेत्रोंवाले व्याध को देखकर पहले तो रामानुज थोड़े भयभीत हुए थे, परन्तु उसके मुख पर एक प्रकार की स्नेहमिश्रित गम्भीरता एवं चित्ताकर्षक मधुरता और उसकी पत्नी की सरलता देखकर धीरे धीरे रामानुज के हृदय का संशय दूर हुआ और वे उन दोनों के साथ चलने को सहमत हुए। दिन ढलने में अब देर न थी। व्याध ने कहा, "चलो, हम शीघ्रतापूर्वक इस वन्य प्रदेश को पार कर लें। थोड़ी दूर पर एक बड़ी अन्त:सलिला नदी है, उसी के तट पर आज हम रात बिताएँगे।" घण्टे भर चलकर वे लोग नदीतट पर जा पहुँचे। व्याध ने वहाँ कुछ लकड़ियाँ एकत्र करके आग जला दी और निकट की ही थोड़ी-सी भूमि समतल करने के बाद उसने रामानुज को वहाँ विश्राम करने को कहा। उसी के एक किनारे पर वह स्वयं भी अपनी पत्नी के साथ लेट गया।

व्याध से उसकी पत्नी ने कहा, "मुझे बड़े जोर की प्यास

लगी है, यहाँ कहीं जल मिलता हो, तो खोजकर ला सकोगे?'' व्याध बोला, ''रात हो आई है। अब यहाँ से उठना उचित नहीं। यहाँ से थोड़ी ही दूरी पर एक सुन्दर सीढ़ियोंवाला कुँआ है। कल प्रात:काल उसका निर्मल जल पीकर तुम अपनी प्यास मिटाना।'' व्याध-पत्नी सहमत हुई।

अगले दिन सुबह उठकर रामानुज ने प्रात:कृत्य समाप्त किया और व्याध-दम्पत्ति के पीछे पीछे चल पड़े। शीघ्र ही वे उस कूप के निकट जा पहुँचे। रामानुज ने सीढ़ियों से नीचे उतरकर हाथ-मुँह धोया और शीतल निर्मल जल से अपनी तृष्णा मिटाने के बाद उन्होंने अंजलि में पानी लाकर व्याध-पत्नी को पिलाया। इस प्रकार तीन बार अंजलि भर-भरकर पानी लाने पर भी व्याध-पत्नी की पिपासा शान्त नहीं हुई। वे जब चौथी बार जल लेकर ऊपर आये, तो उन्होंने देखा कि वहाँ कोई भी नहीं है। इधर-उधर दृष्टि फिराकर देखने पर भी उनका कोई चिह्न उन्हें दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उनकी समझ में नहीं आया कि इन दो-चार मिनटों के भीतर ही वे लोग कहाँ लुप्त हो गये। बाद में वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ये लोग मनुष्य नहीं, देवता थे। व्याध-दम्पत्ति के रूप में लक्ष्मी-नारायण ही उन्हें पथ दिखाने तथा रक्षा करने आए थे। उन्होंने समीप ही मन्दिर का कलश तथा अनेक मकान देखकर अनुमान लगाया कि वह कोई नगर होगा।

निकट से होकर गुजरते एक यात्री को देखकर उन्होंने पूछा, ''महाशय, इस स्थान का क्या नाम है?'' पथिक ने विस्मयपूर्वक उनके मुख की ओर निहारते हुए कहा, ''क्यों जी, तुम आकाश से उतरे हो क्या, जो इस सुविख्यात कांची नगरी को नहीं पहचानते? वेशभूषा से तो तुम इधर के ही लगते हो, परन्तु बातें परदेशियों के समान कर रहे हो। क्या तुम महात्मा यादवप्रकाश के शिष्य नहीं हो? मैंने तो तुम्हें कितनी ही बार इसी कांचीपुरी में देखा है। यह जो कुँआ देख रहे हो, जिसके जल से तुमने हाथ-मुँह धोया है, जिसके निकट वह विशालकाय प्राचीन वृक्ष विद्यमान है, इसके विषय में शायद तुम नही जानते। इसका नाम शालकूप है। इसका जल त्रितापनाशक है, अत: अनेक स्थानों से लोग इसे तीर्थ मानकर इसका जल पीने को आया करते हैं।

इतना कहकर वह पथिक चला गया। रामानुज निद्रा से उठे हुए के समान थोड़ी देर तक कुछ समझ न सके और अवाक् खड़े रहे। पर दूसरे ही पल व्याध-दम्पत्ति का स्मरण हो आने से उनकी जड़ता दूर हुई। इस विषय में उन्हें कोई सन्देह न रहा कि लक्ष्मी-नारायण की अपार कृपा से ही उनकी प्राणरक्षा हो सकी है। प्रेमविह्वल चित्त से अश्रुपात करते हुए वे श्रीमन्नारायण की इस प्रकार वन्दना करने लगे –

ॐ नमो ब्रह्मण्य देवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः।[१]

५. पुनः स्वजनों के बीच

भगवत्प्रेम में उन्मत्त होकर रामानुज बारम्बार उस शालकूप की प्रदक्षिणा करने लगे और चारों तरफ इस आशा के साथ देखते रहे कि सम्भव है श्री और हरि पुन: व्याध-दम्पत्ति के रूप में प्रकट होकर उनके नयन-मन को सार्थक करें। सुबह हुए लगभग एक घण्टा बीत चुका था। दो-चार महिलाएँ बगल में कलश दबाए नगर की ओर से जल लेने उसी कूप की दिशा में चली आ रही थीं। कांचीपुर वहाँ से लगभग एक मील दूर था। पूर्व, पश्चिम तथा उत्तर की ओर वृक्ष-लताओं से आच्छादित वन होने के कारण वहाँ लोगों का आवागमन अति विरल था। अतएव उस निर्जन स्थान में रामानुज उन्मुक्त हृदय के साथ अपने प्राणास्पद प्रभु की अपार महिमा का कीर्तन करते हुए उसका पूर्ण रूप से रसास्वादन करने लगे। उन्होंने कुन्ती के मधुर स्तव के साथ प्रभु की वन्दना की –

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥
नमः पंकजनाभाय नमः पंकजमालिने।
नमः पंकजनेत्राय नमस्ते पंकजाङ्घ्रये॥[२]

– ''कृष्ण, वासुदेव, देवकीनन्दन, नन्दकुमार, गोविन्द को मेरा बारम्बार प्रणाम है। कमलनाभ, कमलनयन, कमलचरण तथा कमलमाला-धारी प्रभु को मैं बारम्बार प्रणाम करता हूँ।''

इसके उपरान्त कुन्ती के ही समान प्रभु के पादपद्मों में प्रार्थना करने लगे –

विपदः सन्तु नः शश्वत्तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत्स्याद् अपुनर्भवदर्शनम्॥
जन्मैश्वर्यश्रुतश्रीभिरेधमानमदः पुमान्।
नैवार्हत्यभिधातुं वै त्वामकिञ्चनगोचरम्॥
नमोऽकिञ्चनवित्ताय निवृत्तगुणवृत्तये।
आत्मारामाय शान्ताय कैवल्यपतये नमः॥[३]

– ''हे जगद्गुरो! तुम्हारी कृपा से हमारे जीवन में सर्वदा विपत्तियाँ आती रहें, क्योंकि विपत्तियों में ही तुम्हारे दर्शन हुआ करते है और तुम्हारा दर्शन हो जाने पर पुनर्जन्म से छुटकारा मिल जाता है। जो लोग ऐश्वर्य, रूप तथा विद्या के साथ उच्च कुल में जन्म लेकर अपने को अतीव गौरवशाली मानते हैं, वे तुम्हारा नाम लेने के अधिकारी नहीं, क्योंकि अकिंचन लोगों को ही तुम्हारे दर्शन मिलते हैं। हे प्रभो! इस जगत् में जिनके पास अपना कहने को कुछ भी नहीं है, उन समस्त भक्तों के तुम्हीं एकमात्र धन हो। धर्म, अर्थ, काम के अतीत होकर तुम निरन्तर अपनी आत्मा में रमण करते हो। वासनाहीन होने के

१. श्री विष्णु पुराण, १/१९/६५
२. श्रीमद् भागवतम्, १/८/२१-२२
३. वही, १/८/२५-२७

कारण तुम सर्व प्रकार से शान्त हो, अखिल जीवों के मुक्तिदाता हो, मैं तुम्हारी वन्दना करता हूँ ।''

जब भाग्यवान रामानुज प्रेमविभोर होकर अश्रु-पुलक-कम्प आदि सात्त्विक विकारों से परिपूर्ण हो रहे थे, उसी समय बगल में कलश दबाए तीन स्त्रियाँ कुँए के निकट आ पहुँचीं । उन्हें देखकर रामानुज ने अपना भाव संवरण किया और स्वस्थ होकर कांची की ओर प्रस्थान किया ।

माता कान्तिमती पुत्र के वियोग में रुदन कर रही थीं । उसी समय प्रिय पुत्र को सहसा सम्मुख देखकर पहले तो उन्हें अपनी आँखों पर ही विश्वास नहीं हुआ । परन्तु जब रामानुज ने उनके चरणों में अवनत होकर अपनी मधुर वाणी में कहा, ''माँ, मैं आ गया । तुम कुशलपूर्वक हो न?'' तब उनका सारा सन्देह दूर हो गया । उन्होंने पुत्र का मस्तक सूँघकर बैठाते हुए पूछा, ''बेटा, तुम इतनी जल्दी अकेले ही लौट आए? गोविन्द कहाँ है? सुना है कि गंगा-स्नान करके लौटने में छह महीने लग जाते हैं । तू क्या रास्ते से ही लौट आया है?'' रामानुज ने आद्योपान्त सब कह सुनाया । यादवप्रकाश के षड्यंत्र की बात सुनकर वे बिल्कुल सिहर उठीं और ईश्वर की कृपा का स्मरण करते हुए पुत्र का मुख देखकर आनन्द से विह्वल हो उठीं ।

वे नारायण का भोग तैयार करने तुरन्त पाकशाला में गईं । आनन्द में वे यह निश्चित नहीं कर पाई कि क्या पकाएँ । चूल्हे के पास जाकर देखा, तो लकड़ी नहीं था । दो-तीन दिन पूर्व ही लकड़ियाँ समाप्त हो चुकी थीं । रामानुज घर में नहीं थे और नववधू भी पित्रालय को गई हुई थी, अत: भोजन किसके लिये बनता? उन्होंने थोड़ा-सा फल-मूल ही भगवान को निवेदित कर आहार करके दो दिन बिता दिये थे । अत: लकड़ी की बात उन्हे बिल्कुल ही भूल गई थी । विशेषकर आज उनका मन रामानुज के लिए अत्यन्त चंचल हो गया था और वे एकान्त में बैठकर रो रही थीं । घर की बातें उन्हें कुछ भी याद नही रह गई थीं । दासी अब तक आई न थी और पुत्र काफी भ्रमण करके लौटा है, अत: उसे कष्ट देना उचित न होगा, अत: वे स्वयं ही जाकर लकड़ियाँ खरीद लाने का विचार कर रही थीं । उसी समय उसकी छोटी बहन दीप्तिमती बहू के साथ दूसरे दरवाजे से घर में आई और उन्हें प्रणाम करके कहने लगीं, ''दीदी, तुम ठीक से हो न? दासी ने आकर समाचार दिया कि तुम आहार-निद्रा छोड़कर दिन-रात पुत्र के लिये रो रही हो । इसीलिये मैं तुम्हे देखने चली आई । चिन्ता की क्या बात है? नारायण तो हैं ही । वे बालक की रक्षा करेंगे । कितने ही लोग गंगास्नान करके लौट आते हैं । तुम निश्चिन्त रहो । रामानुज और गोविन्द के न लौट आने तक मैं तुम्हारे पास ही रहूँगी । मैं बहू को भी साथ ले आई हूँ । दासी स्वयं ही लकड़ी आदि खरीदकर ..... ।'' उनकी बात पूरी होने के पूर्व ही रामानुज ने आकर मौसी के चरणों में प्रणाम किया । सहसा भानजे को सामने पाकर दीप्तिमती के आनन्द की सीमा न रही । रामानुज को पकड़कर उठाते हुए उन्होंने, ''बेटा, चिरंजीवी रहो'' कहकर आशीर्वाद दिया और गोविन्द के बारे में पूछकर सब कुछ जान लिया । कान्तिमती बहन तथा बहू को पाकर परम हर्षित हुईं । लज्जाशील बहू भी अप्रत्याशित रूप से पतिदेव का सान्निध्य पाकर आनन्दविभोर हो गई और उनके चरणों में अवनत होकर प्रेमाश्रु से उनका अभिषेक करने लगी । आचार्य के घर में उस समय मानो स्वर्ग ही उतर आया था ।

इसी बीच दासी घी, चीनी, चावल, शाक, नमक, लकड़ी आदि रसोई की विविध सामग्रियाँ ले आई थी । दोनों बहनों ने परम प्रीति के साथ नारायण के लिये अनेक प्रकार के भोग पकाए । नारायण को भोग निवेदन करने के पश्चात् रामानुज घर के बाहर आये । उन्होंने देखा कि उनके आगमन का समाचार पाकर श्री कांचीपूर्ण उन्हें देखने आए हैं और वहाँ प्रतीक्षा कर रहे हैं । जैसे पूर्णचन्द्र को देखकर समुद्र आनन्द से उत्फुल्ल होकर अपने असंख्य तरंगों रूपी करमाला उठाकर सुधाकर के करसमूह को प्रीतिपूर्वक ग्रहण करता है, उसी प्रकार श्री कांचीपूर्ण ने भी पुलकित-गात अपने हाथों से प्रणाम को उद्यत रामानुज के हाथ पकड़ लिये और अपने शुद्रत्व का उल्लेख करते हुए परम प्रीति के साथ उन्हें उठाकर ऐसे लोकाचार-विरुद्ध कर्म से विरत किया । तब रामानुज उनसे बोले, ''मेरा परम सौभाग्य है कि आज आपका भी दर्शन प्राप्त हो गया । कृपा करके आज यहीं प्रसाद ग्रहण करें । सब कुछ तैयार है ।'' श्री कांचीपूर्ण ने सहमति व्यक्त की ।

पिता के परलोक-गमन के बाद से रामानुज के घर में उस दिन के जैसा आनन्द कभी नहीं मना था । गोविन्द की अनुपस्थिति के कारण यद्यपि दीप्तिमती को किंचित क्षुब्ध होना चाहिये था, तथापि रामानुज के प्रति उनका ऐसा प्रगाढ़ स्नेह तथा नारायण की कृपा में ऐसा दृढ़ विश्वास था कि उनके मन में क्षोभ होने की बात ही नहीं, बल्कि उस दिन उन्होंने ही सर्वाधिक आनन्द का उपभोग किया था ।

❖ (क्रमश:) ❖
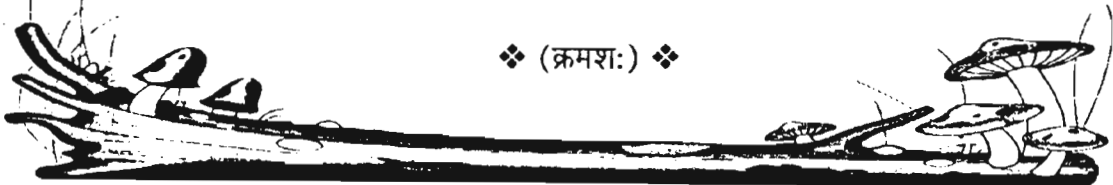
जीना सीखो (९)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं । उन्होंने युवकों को जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई । हाल ही में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुआ है । इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे है । दिल्ली के डॉ. कृष्ण मुरारी ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है । – सं.)

अथक परिश्रम का जीवित उदाहरण

जब गांधीजी ने ईमानदारी-पूर्वक अपनी व्यक्तिगत दुर्बलताओं को जीतने का प्रयास किया, तो उन्होंने अपने देशवासियों को भी इस दिशा में प्रेरणा दी । उन्होंने अपने त्याग-तपस्यापूर्ण जीवन की नैतिक व आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा लोगों के मन में स्वाधीनता-संग्राम हेतु आध्यात्मिक शक्ति भर दी । अपनी वृद्धावस्था में भी वे राष्ट्र-कल्याण के अपने विचारों को सार्थक करने तथा लोगों को श्रम का सम्मान करने की शिक्षा देने हेतु प्रतिदिन २० घण्टे काम करते थे । वे दु:खियों के प्रति कोरी सहानुभूति ही नहीं दिखाते थे, अपितु वे सर्वदा गरीबों तथा दलितों के दु:ख दूर करने में लगे रहते थे । इस प्रकार वे मानव-सेवा, नि:स्वार्थता तथा नैतिकता के मूर्तिमान प्रतीक बन गए । उन्होंने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य का सामना किया, स्वाधीनता-संग्राम का नेतृत्व किया और महात्मा कहलाए । उनका जन्म साधारण लोगों में हुआ, उन्होंने साधारण लोगों के समान गल्तियाँ भी कीं; परन्तु वे असाधारण बन गए । उनके गुण क्या अनुकरणीय नहीं हैं? क्या हमारे देशवासी कभी उन्हें भूल सकेंगे? क्या उनका जीवन दृढ़ संकल्प, आदर्शवाद तथा अपूर्व धैर्य सहित सतत कर्म का सजीव उदाहरण नहीं था?

अपनी सामान्य स्थिति से उन्नति करते हुए एक महान् सामाजिक नायक बननेवाले अमेरिकन-निग्रो नेता बुकर टी. वाशिंगटन का जीवन भी ऐसा ही महत्वपूर्ण था ।

दलितों के साहसी नायक

बुकर टी. वाशिंगटन दासता, निर्धनता तथा गन्दगी के माहौल में पैदा हुए थे । अमेरिका के गोरे लोग निग्रो लोगों की हँसी उड़ाते और उन्हें हीनता तथा घृणा की दृष्टि से देखते । ऐसे निराशाजनक वातावरण में ही वह बड़ा हुआ । उसे शिक्षा प्राप्ति की कोई आशा न थी, किन्तु श्वेत लोगों के बच्चों को पाठशाला जाते देख वाशिंगटन में मन में भी पढ़ने की तीव्र इच्छा जागी । आरम्भ में उसे किसी शिक्षक से कोई सहायता नहीं मिली । अपनी माता द्वारा दी हुई पुस्तक से उसने स्वयं ही वर्णमाला सीखी । कुछ ही महीनों में वह उस पूरी पुस्तक से परिचित हो गया । श्वेत बच्चों को देखकर बुकर के मन में भी स्कूल जाने की तीव्र इच्छा हुई । अन्तत: तीव्र इच्छा ने उसे कीर्ति के शिखर तक पहुँचा दिया । उसके बहुमुखी ज्ञान की कहानी वास्तव में उत्साह तथा प्रेरणा जगाती है । यह एक ऐसे महापुरुष की कथा है, जिसने गरीबी तथा रंगभेद के कारण कष्ट उठाया, जिसने असाधारण धैर्य तथा सहिष्णुता के साथ अनेक दु:ख-कष्ट सहे और कठोर कमरतोड़ मेहनत के बल पर जीवन में उन्नति की । उनकी महानता-प्राप्ति के उदाहरण से सभी विकासशील व्यक्ति तथा राष्ट्र अपने उत्थान के लिए प्रेरणा ग्रहण कर सकते हैं । कोई दुर्लभ सम्मान मिलने पर वे अपना सन्तुलन नहीं खो बैठते थे । वे नि:स्वार्थ सेवा के शिखर तक पहुँचे और अपने निग्रो भाइयों की मुक्ति के लिए दिन-रात कार्य में लगे रहे । इस महान् नेता के विचार तथा कार्य सारे विश्व के लिए आदर्श हैं । समाज-कल्याण के विषय में सोचनेवाला प्रत्येक व्यक्ति, सभी मानवीय गुणों के भण्डार-रूप वाशिंगटन के जीवन का अध्ययन करके रोमांचित होगा । उसका जीवन ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत करता है, जिनसे पता चलता है कि कैसे लगन, धैर्य, स्वचेष्टा तथा आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा मनुष्य अत्यन्त शक्तिशाली बाधाओं का भी सामना कर सकता है । उनका कहना है, "मैंने सीखा है कि सफलता जीवन में प्राप्त पदवी से नहीं, बल्कि उन बाधाओं से नापी जाती है, जिन्हें पार करके वह सफल हुआ है ।

"वे ही लोग सर्वाधिक सुखी हैं, जो दूसरों के लिए अधिक प्रयास करते हैं । जो लोग दूसरों की जरा भी सहायता नहीं करते, वे ही सर्वाधिक दु:खी हैं ।"

वाशिंगटन ने अपने कष्टों की बात भूलकर और अपनी आय की चिन्ता छोड़कर अपनी जाति के लोगों को शिक्षित करने के लिए दिन-रात प्रयास किया । उन्होंने स्कूल खोले और बच्चों को पढ़ाया । वे अलग से ट्यूशन भी पढ़ाते थे । फिर उन्होंने तुसेनी नामक स्थान पर एक शिक्षालय बनाया । उनके अथक परिश्रम व उत्साह के कारण कुछ वर्षों में ही वह स्कूल सुप्रसिद्ध हो गया । वहाँ दूर दूर से बच्चे आने लगे ।

केवल २० वर्षों में ही स्कूल के पास २३०० एकड़ भूमि हो गयी । ७०० एकड़ में खेती की जाती थी । छात्र ही खेतों में कार्य करते थे । भवनों का निर्माण भी उन्होंने स्वयं किया । सामान्य शिक्षा के साथ ही उन्हें कृषि तथा उद्योग का प्रशिक्षण भी दिया जाता था । वहाँ धार्मिक शिक्षा का भी प्रावधान था । इस दलित नेता ने अपने स्कूल के उदाहरण द्वारा यह दर्शाया कि शिक्षा का उद्देश्य छात्रों को नौकरी की खोज में दफ्तरों की खाक छाननेवाले भिखारी बनाना नहीं है । उन्होंने उन लोगों को उद्यम, स्वाधीनता, उत्साह तथा परिश्रम की नींव पर अपना जीवन गढ़ने की प्रेरणा दी ।

उनका कहना था, "जो हमारे दैनन्दिन जीवन के साथ किसी-न-किसी रूप में जुड़ी न हो, वह शिक्षा नहीं है । शिक्षा ऐसी कोई चीज नहीं है, जो हमें शारीरिक श्रम से बचाती हो । यह शारीरिक श्रम को सम्मान दिलाती है । अप्रत्यक्ष रूप से शिक्षा एक ऐसा साधन है, जो सामान्य लोगों का उत्थान करके उन्हें स्वाभिमान तथा सम्मान दिलाती है ।

"मैंने ऐसा नियम बना लिया है कि मैं कभी अपने कार्य को अपने ऊपर प्रभुत्व नहीं जमाने देता । मैं हमेशा उससे आगे रहता हूँ और उसे अपने नियन्त्रण में करके अपने अधीन रखता हूँ । कार्य के सभी अंगों पर पूर्ण प्रभुत्व-बोध से एक तरह का शारीरिक-मानसिक तथा आध्यात्मिक आनन्द मिलता है, जो काफी सन्तोषजनक तथा प्रेरणादायी है । मेरा अनुभव बताता है कि यदि कोई इस योजना के अनुसार चलना सीख ले, तो उसे कार्य के द्वारा एक ऐसी शारीरिक ताजगी तथा मानसिक ऊर्जा प्राप्त होती है, जो उसे स्वस्थ तथा सबल बनाये रखने में सहायक होती है । मेरा विश्वास है कि जब कोई इतना उन्नत हो जाता है कि वह अपने कार्य से प्रेम करने लगे, तो इससे उसे अति मूल्यवान ऊर्जा की प्राप्ति होती है ।

"मेरा विश्वास है कि यदि कोई मनुष्य प्रतिदिन सर्वश्रेष्ठ कार्य करने का संकल्प कर ले अर्थात् प्रतिदिन शुद्ध निःस्वार्थ भाव से आजीविका हेतु कर्म करने की चेष्टा करे, तो उसका जीवन निरन्तर आशातीत उत्साह से परिपूर्ण हो जायेगा । चाहे वह श्वेत हो या निग्रो, मुझे उस पर दया आती है, जिसने कभी दूसरों को अधिक उपयोगी तथा सुखी बनाने में सहायता करने में आनन्द तथा सन्तोष का अनुभव नहीं किया ।

"मैंने ख्याति की कभी चिन्ता नहीं की । मैंने ख्याति को सदा भलाई का साधन माना । मित्रों से मैं प्रायः कहता हूँ कि यदि मेरी ख्याति भलाई करने का साधन बने, तो मुझे सन्तोष होगा । मैं इसे धन के समान सत्कार्य में लगाना चाहता हूँ ।

"दासता के जाल में फँसे किसी भी दुर्भाग्य से पीड़ित राष्ट्र या समुदाय के लिए मेरे हृदय में पीड़ा होती है । मेरी जाति को गुलाम बनानेवाले गोरे लोगों से मुझे जरा भी घृणा नहीं है । रंगभेद के भाव से ग्रस्त अभागे व्यक्ति पर मुझे दया आती है।

"अनेक स्थानों पर लोगों से मिलकर मैंने देखा कि दूसरों के हितार्थ सर्वाधिक कर्म करनेवाले ही सबसे अधिक सुखी भी हैं और सबसे कम करनेवाले ही सर्वाधिक दुःखी हैं । ... मैंने सीखा है कि निर्बल को दी गई सहायता, देनेवाले को सबल बनाती है और दीनों को सतानेवाला दुर्बल हो जाता है ।

"यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का प्रत्येक दिन अत्यन्त उपयोगी रूप से बिताने का निर्णय ले अर्थात् वह इस प्रकार कर्म करने का प्रयास करे कि इससे उसकी पवित्रता, निःस्वार्थता तथा उपयोगिता में अधिक-से-अधिक वृद्धि हो, तो उसका जीवन सदा उत्साह तथा प्रेरणा से परिपूर्ण रहेगा । चाहे श्वेत हो या काला, मुझे उस व्यक्ति पर दया आती है, जिसने दूसरे लोगों के जीवन को उपयोगी तथा सुखी बनाने से उत्पन्न होनेवाले सन्तोष तथा आनन्द का अनुभव नहीं किया ।"

ये थे अन्तर्दृष्टि से परिपूर्ण प्रेरणा-आलोक से जाज्वल्यमान शब्द, जो प्रत्यक्ष अनुभव से प्राप्त हुए थे ।

पॉवलोव का अन्तिम सन्देश

प्रसिद्ध रूसी मनोवैज्ञानिक पॉवलोव जब मृत्यु-शैया पर पड़े थे, तो उनके प्रिय छात्रों ने उनसे सफलता का वह रहस्य पूछा, जो उनके जीवन में भी उपयोगी हो । शायद पॉवलोव ने कहा था – 'तीव्र इच्छा और धीर गति' । तीव्र इच्छा का अर्थ है – सच्ची लगन । और धीर गति से मतलब है – क्रमशः प्रगति के दौरान धैर्य रखना । किसी भी क्षेत्र में विजयी होने के लिए मन में तीव्र इच्छा ही नहीं, वरन् विधिवत् तथा क्रमशः कदम कदम बढ़ने का धैर्य भी होना चाहिए । संगीत सीखने की तीव्र इच्छा रखनेवाले के विषय में कहा जाता है, "वह तो संगीत के पीछे पागल हो गया, सर्वदा चीखता रहता है ।" येन-केन-प्रकारेण जल्दबाजी में लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास तीव्र इच्छा नहीं है । इसका अर्थ है – असफलता या संशय से हतोत्साहित हुए बिना लक्ष्य-प्राप्ति का संकल्प । असफल होने का भय दूर करने के लिए हमें ऐसे कार्यों से आरम्भ करना चाहिए, जिनमें सफलता निश्चित हो और उन्हें पूरी निष्ठा के साथ करना चाहिए । इससे रुचि बढ़ती है और एकाग्रता, उत्साह तथा आनन्द की प्राप्ति होती है । ऐसा सतत अभ्यास ही पहलवानों, भारोत्तोलकों, संगीतज्ञों तथा सरकस के कलाकारों की सफलता का रहस्य है ।

सहनशीलता

पॉवलोव के शब्दों का हम एक अन्य अर्थ भी लगा सकते हैं । किसी क्षेत्र या विषय में उच्च कुशलता व सफलता की प्राप्ति हेतु हममें तीव्र रुचि व कार्य में निरन्तर धीरे धीरे बढ़ने का धैर्य होना चाहिए । धैर्य ही तो प्रेम के द्वार की दहलीज है ।

यद्यपि हमारे भीतर अनन्त क्षमता है, तथापि हम तैयारी के बिना दौड़-प्रतियोगिता में भाग नहीं ले सकते । हमें अपनी वर्तमान अवस्था से ही उठना पड़ेगा । हमें अपने बल व क्षमता को आँकना होगा और यह जानना होगा कि हम उन्हे किस हद तक और कैसे बढ़ा सकते है । अपने बल को आँके बिना ही यदि हम दूसरों की नकल पर दौड़ पड़े, तो हमें लड़खड़ा कर गिरना ही होगा । इस प्रकार गिरनेवाला कभी कभी तो मैदान को ही दोष देता है । ऐसे लोग अपने दोषों की सफाई देकर, अपने से आगे निकल जानेवालों के प्रति द्वेषभाव पालें, तो वे और भी अधिक कष्ट उठाते हैं । ऐसा धैर्य के अभाव से होता है । आगे बढ़ने के इच्छुक में धैर्य का गुण होना जरूरी है ।

सन्त स्वामी वादिराज ने किसी के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में धैर्य का अतिशय महत्व समझा था। उन्होने धैर्य को तप के तुल्य माना है । निम्नलिखित पद्य मे उन्होंने अपने धैर्य का सन्देश दिया है –

''जब तक पौधे में फल नही आ जाते, तब तक धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करो । अभी भोजन का संग्रह करो, इसे तुम्हे बाद में खाना है । कठिनाई मे हार मत मानो, धैर्य रखो, दुष्टों के वाक्य सहन करो, शीतल जल से छींटे मारे हुए उफनते हुए दूध के समान स्वयं को संयमित रखो ।''

सम्भव है अपने रोपे हुए पौधे को तुमने यथेष्ट खाद दी हो, बीच बीच में सिंचाई भी की हो तथा उसके चारो ओर बाड़ भी लगाया हो; पर पौधे के वृक्ष बनकर फल देने की गति को तुम तीव्र नही कर सकते । यदि वह शीघ्र फल देनेवाला भी हो, तथापि तुम्हे उसके पूर्ण विकसित होने की प्रतीक्षा करनी होगी । वह पूरा वृक्ष बनने के बाद ही फल देगा । किसी भी क्षेत्र में चरम उपलब्धि केवल सच्चे प्रयास से ही सम्भव है । यह प्रकृति का नियम है । कपट से महाकार्य नहीं होते । हमें सदैव स्मरण रखना होगा कि सफलता केवल सुकर्मों से ही मिलती है । कर्मो के फलो की चिन्ता किए बिना धैर्यपूर्वक सुकर्म किये जाना चाहिए । गीता में भगवान का सन्देश है – ''जो कल्याण-भाव से सत्कर्म करता है, उसकी जीवन मे कभी दुर्गति नही होती ।'' इन शब्दों पर विश्वास, हमे बाधाओं तथा कठिनाइयो से निराश हुए बिना सत्य के मार्ग पर चलने को प्रेरित करेगा । अंग्रेजी में कहावत है – Shortcut may cut you short. – सुविधा का मार्ग तुम्हारा नाश कर सकता है । तात्पर्य यह है कि यदि तुम सफलता का सुगम मार्ग ढूँढ़ोगे, तो यह तुम्हारी सच्ची उन्नति मे बाधक ही सिद्ध होगा ।

जीवन में हम सभी को कोई-न-कोई समस्या हल करनी ही पड़ती है । संकट के समय कुछ लोग पूरी तौर से निराश तथा हताश हो जाते हैं । वे दूसरो पर दोषारोपण करके दिलाशा पाते हैं । कुछ लोग तो समस्या का समाधान न होने पर आत्महत्या तक कर लेते हैं । मानव-जीवन में सुख या दु:ख सदा नही रहते । भले ही हमें पसन्द न हों, परन्तु जीवन में दु:ख तो आयेंगे ही । जीवन में समस्याएँ आने पर, हमें हतोत्साहित हुए बिना उनकी चुनौती को स्वीकार करते हुए, उनका कारण जानकर धैर्यपूर्वक उन पर विजय पानी होगी ।

परम सच्चे, महान् तथा परोपकारी लोग भी आलोचना तथा बदनामी से बच नहीं पाते; फिर साधारण लोगों की तो बात ही क्या है? समस्त झूठे आरोपों या आलोचनाओं को सहन करने की आवश्यकता नही । जहाँ प्रतिरोध उचित हो, प्रतिक्रिया स्वभाविक हो, वहाँ उन्हें व्यक्त करना ही कर्तव्य है । परन्तु हर व्यक्ति प्राय: प्रतिदिन ही अनुचित रूप से लांछित या आरोपित किया जाता है । हर बात पर क्रुद्ध होना या उसके निराकरण का प्रयास कोरी मूर्खता है । सत्य इस अपमान के आधार को ही समाप्त कर देता है । दूसरी दृष्टि से देखें, तो आलोचक हमारा भला ही करते है, क्योकि हमारे दोष या भूलें बताकर वे हमारे शिक्षक का कार्य करते हैं । हमें धैर्य के द्वारा ही इसका बोध होता है । धैर्य के द्वारा ही हम अपनी क्षमता को समझते है, अपने विचारो का मूल्यांकन करते है और अपने गुणो के द्वारा श्रद्धा का उपयोग तथा ज्ञान की प्राप्ति करते है । इस प्रकार धैर्य में सभी आध्यात्मिक गुणों का सामंजस्य हो जाता है । धैर्य के गुण का विकास करने के लिए हमें सतर्क तथा विनम्र रहना होगा । क्रोध मे हम कटु तथा अपशब्द कह डालते है । हमे धैर्य का इसलिए विकास करना चाहिए, ताकि आगे चलकर हम व्यर्थ ही पछताना न पड़े ।

जागो ! उठो !

प्रत्येक व्यक्ति के अन्त:स्थल में दिव्यता है । मनुष्य केवल भौतिक तत्त्वो के मिलने से नही बना है । वह शरीर में निवास करनेवाला एक जीवात्मा है । प्रत्येक मनुष्य मे दिव्यता की चिनगारी है । अपने दिव्य स्वरूप पर विश्वास के द्वारा हममे स्वयं में अदम्य आत्मविश्वास का गुण पैदा होता है, जो हमे कभी निराशा के दलदल में फँसने नही देता, बल्कि सर्वदा हममे उज्ज्वल भविष्य के प्रति आशा जगाता है । किसी भी जटिल परिस्थिति के पीछे कुछ ऐसा विधान है, जो हमारी समझ के परे हैं – यह मान्यता ही इस विश्वास का आधार है । देर-सबेर यह विधान हमे बताता है कि हमारे सुधार व विकास का सूत्र हमारे भीतर ही है । रॉबर्ट ब्राउनिंग के आशामय शब्दों में, ''मेरे साथ वृद्ध होओ, सर्वोत्तम तो अभी आने को है ।'' घूमते हुए चक्र में जो नीचे है, वह ऊपर जरूर आएगा । रात के बाद सूर्योदय अवश्य होगा । हमारे प्रशिक्षण तथा विकास के चरण में दु:ख-कष्ट तथा पीड़ा अपरिहार्य हैं, पर वे स्थायी नही है । यदि हम जीवन का आंशिक विश्लेषण करने पर तो नहीं, पर सम्पूर्ण जीवन को एक साथ देखने पर यह सत्य लगता है । इसके अतिरिक्त सर्वसमर्थ तथा सर्वव्यापी दिव्य शक्ति हमें कष्ट देने के लिए नही, वरन् हमें आध्यात्मिक विकास के पथ पर ले जाने के लिए है । सब कुछ अपनी योजना के अनुसार होने की आशा हमें नहीं रखनी चहिए । संकट के समय हमे उद्यम में लगे रहकर स्वयं को दिव्य-शक्ति के समक्ष समर्पित कर देना चाहिए । तब सफलता निश्चित है ।

प्रकृति कभी कभी बहादुरों के मार्ग में भी बड़े बड़े अवरोध खड़े कर देती है; परन्तु जब हम धैर्य, आत्मविश्वास, अथक प्रयास तथा मनोबल के साथ उनका समना करते हैं, तब हम विजय के शिखर पर जा पहुँचते हैं ।

''हे ईश्वर, तुम हमारे प्रयत्नों के बदले में हमें सब कुछ देते हो'' – लियोनार्डो द विन्सी के ये शब्द पूर्णतया सत्य हैं ।

❖ (क्रमश:) ❖

ईसप की नीति-कथाएँ (९)

(ईसा के ६२० वर्ष पूर्व आर्विर्भूत ईसप के जीवन के विषय में ज्यादा जानकारी नही मिलती । कहते हैं कि वे पूर्व के किसी देश मे जन्मे और यूनान मे निवास करनेवाले एक गुलाम थे । उनके नाम पर प्रचलित अनेक कथाओं पर बौद्ध जातको तथा पंचतंत्र आदि मे ग्रथित भारतीय कथाओं की स्पष्ट छाप दिखाई देती है । इन कथाओ मे व्यवहारिक जीवन के अनेक कटु या मधुर सत्यों का निदर्शन मिलता है, अत: ये आबाल-वृद्ध सभी के लिये रोचक तथा उपयोगी है । इनकी लोकप्रियता का यही रहस्य है । – सं.)

बन्दर और मछुवारे

कुछ मछुवारे एक नदी में जाल फेंककर मछलियाँ पकड़ रहे थे । निकट ही एक वृक्ष की डाली पर बैठा एक बन्दर बड़े ध्यान से उनकी सारी कार्यवाही देख रहा था । थोड़ी देर बाद उन लोगों ने अपने जाल समेटकर किनारे रख दिये और किसी कार्यवश थोड़ी दूर चले गये । बड़ी देर तक उन लोगों के कार्य का निरीक्षण करने के कारण बन्दर के मन में भी उन्हीं लोगों के समान मछलियाँ पकड़ने की इच्छा हुई ।

बन्दर पेड़ से नीचे उतर आया और मछुवारों के समान ही जाल को उठाकर उसे हिलाने-डुलाने लगा । इससे उसके हाथ-पाँव जाल में फँस गये । बहुत कोशिश करने के बाद भी वह अपने को जाल से छुड़ा नहीं सका ।

मछुवारों ने दूर से ही बन्दर का यह कारनामा देखकर सोचा कि दुष्ट बन्दर हमारे जालों को फाड़ रहा है । वे लोग शीघ्रतापूर्वक हाथ में डण्डे लिए हुए वहाँ आ पहुँचे और उसकी अच्छी खबर ली ।

बन्दर मन-ही-मन स्वयं को धिक्कारता हुआ कहने लगा, "मैंने जैसा कर्म किया, उसी के अनुरूप मुझे फल भी मिला । जब मैं मछली पकड़ना जानता ही नहीं, तो फिर जाल में हाथ डालने की मुझे क्या आवश्यकता थी?"

बिना सोचे दूसरों की नकल करनेवाले की दुर्गति होती है ।

टट्टू और वृद्ध किसान

एक किसान के पास एक टट्टू था । एक दिन वह अपने पुत्र के साथ उसे बेचने के लिए बाजार ले जा रहा था । उन्हे देखकर रास्ते में एक व्यक्ति ने टिप्पणी की, "क्या तुमने कभी ऐसे बुद्धू देखे हैं! ये लोग अनायास ही टट्टू पर सवार होकर जा सकते हैं । फिर उन्हें इस प्रकार टट्टू के साथ साथ पैदल चलने की क्या जरूरत है ।"

यह कटाक्ष सुनने के बाद वृद्ध किसान ने पुत्र को टट्टू पर चढ़ा दिया और खुद साथ साथ चलने लगा । सड़क के किनारे कुछ वृद्ध लोग आपस में वाद-विवाद कर रहे थे । उनमे से एक ने किसान को पैदल और पुत्र को टट्टू पर सवार होकर चलते देखकर कहा, "देखो, मैं जो कह रहा था, वह सत्य है या नही । इस युग में वृद्धो का कोई सम्मान नही करता; यही देखो न, बेटा तो टट्टू पर चढ़ा हुआ है और बूढ़ा बाप उसके साथ पैदल चल रहा है ।" इतना कहकर वे किसान के पुत्र को डाँटते हुए बोले, "अरे दुष्ट, तुझमें जरा भी समझ नहीं है; वृद्ध पिता पैदल चल रहे हैं और तू टट्टू पर सवार है!"

किसान का पुत्र अत्यन्त लज्जित हुआ और उसने नीचे उतरकर पिताजी को टट्टू पर चढ़ा दिया । इस प्रकार थोड़ी दूर चलने के बाद मार्ग में कुछ महिलाएँ मिली । वे आपस में कहने लगी, "भगवान जाने इस आदमी की कैसी बुद्धि है; स्वयं तो यह टट्टू पर चढ़ा हुआ है और अपने छोटे बच्चे को पैदल चला रहा है!" यह सुनकर वृद्ध ने लज्जित होकर पुत्र को भी टट्टू पर चढ़ा लिया ।

इसी प्रकार थोड़ी दूर तक चलने के बाद एक व्यक्ति ने किसान से कहा, "ओ भाई, मैं तुमसे एक बात पूछता हूँ – यह टट्टू किसका है?" किसान बोला, "मेरा है ।" तब वह आदमी बोला, "तुम्हारा आचरण देखकर तो ऐसा प्रतीत नही होता । यदि टट्टू तुम्हारा अपना होता, तो तुम इसके साथ इतनी निर्दयता नही दिखाते । क्या सोचकर तुम दोनों इस छोटे-से टट्टू पर चढ़े हुए हो? तुम लोगों ने टट्टू को अब तक जितना कष्ट दिया है, अब उसके प्रायश्चित्त के रूप में तुम दोनों को उसे कन्धे पर उठाकर ले जाना चाहिए ।"

आलोचना सुनकर पिता-पुत्र दोनों ही टट्टू से उतर गये और रस्सी से उसके चारों पाँवों को बाँध दिया । फिर उसके पाँवों के बीच मे से एक बाँस डालकर उसे कन्धों पर उठाकर चलने लगे । जब वे बाजार के पास एक खाई के ऊपर बनी पुलिया पर से होकर गुजर रहे थे, तो बाजार के बहुत-से लोग तमाशा देखने के लिए वहाँ एकत्र हो गये । दो लोग जीवित टट्टू को कन्धे पर उठाकर ले जा रहे हैं – यह देखकर सभी उनकी खिल्लियाँ उड़ाने लगे और तालियाँ बजा-बजाकर चिढ़ाने लगे । शोरगुल सुनकर टट्टू बिदक गया और बलपूर्वक अपनी रस्सियाँ तोड़ डाली । रस्सियाँ टूटते ही टट्टू पुलिया के नीचे स्थित खाई में गिर पड़ा और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये ।

किसान वहाँ एकत्र लोगो की टीका-टिप्पणियाँ सुनकर किंकर्तव्य-विमूढ़ हो गया । थोड़ी देर तक वह वही जड़वत् खड़ा रहा । इसके बाद यह सोचते हुए घर की ओर लौट पड़ा – सबको सन्तुष्ट करने के प्रयास में मैं किसी को भी सन्तुष्ट नही कर सका और अपने टट्टू से भी हाथ धो बैठा ।

मनुष्य को सोच-विचार कर अपना कर्तव्य निर्धारित करके उसी के अनुसार दृढ़तापूर्वक चलना चाहिए ।

❖ (क्रमश:) ❖

चींटी और कीड़ा

वर्षा ऋतु के बाद एक चींटी ने अनाज एकत्र करके रख लिए थे। जाड़े के मौसम में वह थोड़ा-सा अनाज धूप में सुखाने के लिए बाहर निकाल रही थी। एक कीड़ा वहीं पर भूख से मरणासन्न होकर पड़ा हुआ था। उसने चींटी से कहा, "देखो भाई, भोजन के अभाव में अब मेरे प्राण निकलने ही वाले हैं। यदि तुम दया करके अपने भण्डार में से थोड़ा-सा अन्न मुझे भी दे दो, तो मेरे प्राण बच जायँ।" चींटी ने पूछा, "पूरे शरद् ऋतु के दौरान तुमने क्या किया?" उसने उत्तर दिया, "मैंने आलस्य में ही समय बिताया, मैं पूरे शरत् काल में निरन्तर गीत गाता रहा।" यह सुनकर चींटी हँसते हुए बोली, "जब पूरा शरत् काल तुमने गाते हुए बिता दिया, तो पूरा शीत काल अब नृत्य करते हुए बिताओ।"

पहले से ही योजना बनाकर जब जो करना उचित हो, उसे समय रहते ही पूरा कर लेना चाहिए, क्योंकि आग लगने के बाद तत्काल कुआँ खोदना सम्भव नहीं है।

मुर्गी और मोती

एक मुर्गी कूड़े-करकट के ढेर में अपने चूजों के लिए कोई खाने की चीज ढूँढ़ रही थी। उसी में उसे एक मोती पड़ा हुआ मिल गया। चमचमाते हुए मोती को देखकर मुर्गी उससे कहने लगी, "जो लोग तुम्हारी कामना करते हैं, उनके लिए तो तुम परम सुन्दर तथा अत्यन्त मूल्यवान हो, परन्तु मेरी दृष्टि में तुम बिल्कुल ही निरर्थक चीज हो। पृथ्वी के समस्त प्रकार के रत्नों की प्राप्ति की तुलना में मुझे अन्न का एक दाना पाकर कहीं अधिक आनन्द होता।"

भूखे व्यक्ति के लिए अन्न ही सबसे बड़ा रत्न है।

सियार और बकरा

एक सियार जंगल में जाते हुए सहसा एक गहरे गड्ढे में गिर पड़ा। उसने तरह तरह से गड्ढे के बाहर निकलने का प्रयास किया, परन्तु किसी भी प्रकार उसे सफलता नहीं मिली। उसी समय जंगल में चरता हुआ एक बकरा उधर आ निकला। वह प्यास से अत्यन्त व्याकुल था। उसने सियार से पूछा, "भाई, इस गड्ढे में कितना पानी है और यह मीठा भी है क्या?" धूर्त सियार ने अपनी वास्तविक अवस्था को छिपाते हुए चालाकीपूर्वक कहा, "अरे भाई, क्या कहूँ, पानी का स्वाद तो ऐसा है कि मैं इसे जितना ही पीता हूँ, मेरा मन नहीं भरता और यहाँ इतना अधिक जल है कि यह सौ साल पीने पर भी समाप्त नहीं होनेवाला है; इसलिए विलम्ब मत करो, जल्दी से नीचे उतरकर अपनी प्यास मिटा लो।"

इतना सुनते ही बकरे ने और कुछ सोच-विचार किये बिना ही सीधे उस गड्ढे में छलाँग लगा दी। सियार तत्काल ही उसके पीठ पर चढ़ गया और उछलकर सहज ही बाहर निकल आया। इसके बाद वह हँसते हुए बकरे से बोला, "अरे बुद्धू, यदि तेरी दाढ़ी के ही अनुपात में तुझमें बुद्धि होती, तो तू कभी मेरी बातों में आकर गड्ढे में नहीं कूद पड़ता।"

सोच-विचार कर ही दूसरों की बात पर विश्वास करना चाहिए, क्योंकि धूर्त लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिए तरह तरह के हथकण्डे अपनाते हैं।

कबूतर और चील

कुछ कबूतरों का एक चील के साथ झगड़ा था। चील भी कबूतरों का प्रबल शत्रु था। उसके भय से ये लोग सदा चिन्तित रहा करते थे। वे लोग अपने अपने घोसले में रहकर जान बचाते और बहुत जरूरत होने पर ही बाहर निकलते; इस कारण चील उन्हें कोई हानि पहुँचाने में सफल नहीं हो रहा था। एक दिन चील ने एक चालाकीपूर्ण योजना बनायी। वह कबूतरों के पास जाकर बोला,"देखो, तुम लोग बड़े बुद्धू हो, इसीलिए तुम्हें हमेशा भयभीत होकर जीवन बिताना पड़ता है। तुम लोग यदि मेरी सलाह मानो, तो तुम्हारी सारी भय-चिन्ता दूर हो जायेगी। तुम लोग एकमत होकर मुझे अपना राजा बना लो, तो तुम लोग मेरी प्रजा हो जाओगे और मैं बड़े यत्नपूर्वक तुम लोगों का रक्षण तथा पालन करूँगा। उसके बाद कोई भी तुम लोगों पर अत्याचार नहीं कर सकेगा।"

भोले-भाले कबूतर धूर्त चील की बातों में आ गये और उसे अपना राजा बना लिया। राजा बनने का बाद चील हर रोज एक एक कबूतर को मारकर भक्षण करने लगा। तब सभी कबूतर पश्चात्ताप करते हुए कहने लगे – जैसी हमारी बुद्धि है, वैसा ही हमें फल मिला।" परन्तु अब क्या हो सकता था!

मूर्ख लोग सहज ही दूसरों की बातों पर विश्वास कर लेते हैं और बड़ी हानि उठाते हैं। कहा भी है –

बिना विचारे जो करे, सो पाछे पछताय।
काम बिगारे आपनो, जग में होत हँसाय॥

◆ (क्रमशः) ◆
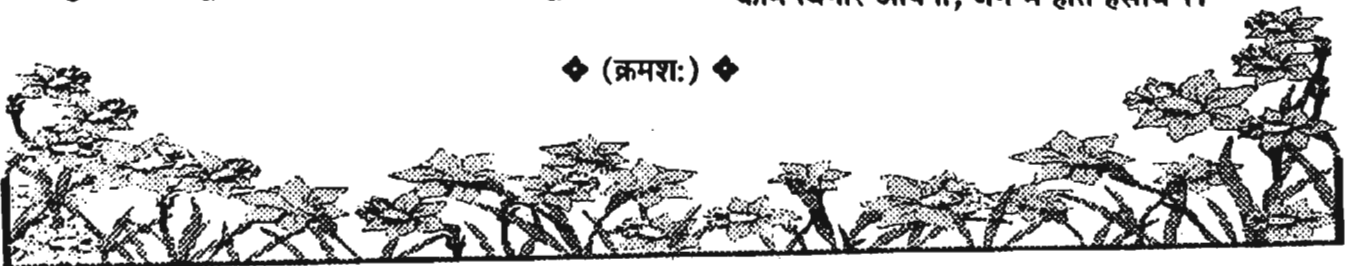
जन्मभूमि का ऋण

श्री रामवल्लभ बियाणी

मई महीने का अन्तिम चरण था । दोपहर के दो बज चुके थे । गरमी अपनी चरम सीमा पर थी । सड़क निर्जन-सी हो गयी थी । पक्षी पेड़ों पर मौन बैठे थे । चारों ओर नीरव शान्ति थी । सड़क गरम तवे के समान तप रही थी । उस समय शहर के उद्योगपति 'मोहन बाबू' के बंगले के सामने एक वृद्ध मानव खड़ा था । दिखने में वह बड़ा 'कृश-सा' लगता था । उसके सिर के सफेद बाल, लम्बी दाढ़ी, उसके वार्धक्य तथा शुचिता को प्रदर्शित कर रहे थे, परन्तु उसका ललाट तेजस्वी था और उसकी आँखों में एक अजीब-सी चमक थी ।

उसके पहने हुए जीर्ण-जर्जर वस्त्रों में से उसकी निर्धनता झलक रही थी, परन्तु उनमें से भी उसका आकर्षक व्यक्तित्व उभरकर प्रकट हो रहा था ।

बँगले के द्वार पर खड़े दरवान ने उससे पूछा, "साधु बाबा, इस तपती धूप में आपके पधारने का हेतु क्या है?" उस दिव्य मूर्ति ने बड़ी गम्भीरता से उत्तर दिया, "मुझे मेरे मोहन से मिलना है ।" दरवान ने कहा, "महाराज, हमारे मालिक को इस नाम से सम्बोधित करनेवाले आप कौन सज्जन हैं? यदि आप द्रव्य माँगने हेतु आये हों, तो सायं चार बजे के बाद पधारना । सेठजी का विश्राम के बाद ऑफिस में आने की यही समय है ।" दरवान के प्रश्न पर उस दिव्य मूर्ति के चेहरे पर हल्की-सी मुस्कान आई, वे बोले, "हमने प्राणी मात्र को केवल देना ही सीखा है और उससे कुछ लेना नहीं सीखा ।" उनके इस उत्तर से दरवान कुछ असमंजस में पड़ गया और उसके हृदय में उस साधु पुरुष के प्रति करुणा तथा आदर-भाव उत्पन्न हुआ । दरवान ने फिर पूछा, "महाराज, आप भूखे-प्यासे-से लगते हैं, कहो तो भोजन का प्रबन्ध करवा दूँ ।"

साधु पुरुष बोले, "तुमने पूछा वह ठीक है, लेकिन हमें तो भूख-प्यासे रहने की आदत हो गई है ।" दरवान यह सुनकर स्तम्भित-सा रह गया और उनको आदर-भाव से देखने लगा । साधु पुरुष ने फिर कहा, "मुझे मेरे कन्हैया से मिलवा देते, तो अच्छा होता ।" दरवान ने हाथ जोड़कर कहा, "क्षमा कीजिए महाराज, मैं फौजी हूँ और जो हुकूम मुझे मिलता है, उसका उल्लंघन मैं नहीं कर सकता । आप कृपया चार बजे तक ठहर जाइए, मालिक से आपकी भेंट हो जायगी । उत्तर में उस दिव्यमूर्ति ने कहा, "नहीं भैया, तब तक मुझे मेरे गन्तव्य स्थान पर पहुँचना है । अच्छा, तो एक काम करो । तुम मुझे एक कागज और कलम ला दो ।" दरवान ने वैसा ही किया और उन साधु पुरुष ने उस पर कुछ लिखा और दरवान के हाथ देकर आगे बढ़ गये ।

वे कुछ ही कदम आगे बढ़े होंगे कि उनकी देह में से एक दिव्य तेज निकलता हुआ दिखाई दिया और वह द्रुतगति से आकाश की ओर बढ़ता हुआ विलीन हो गया । जिस तरह वह दिव्यमूर्ति आँखों से ओझल हो गयी थी, वह चमत्कार देखकर दरवान हक्का-बक्का रह गया । वह उस जगह गया, पर वहाँ उसे कुछ भी दिखाई नहीं दिया ।

इस दृश्य को देखकर दरवान स्तंभित-सा रह गया था, क्योंकि ऐसी घटना उसने जीवन में प्रथम बार ही देखी थी । वह दृश्य उसके आँखों के सामने वैसे-का-वैसा अंकित हो गया और वह उसी को देखने में मग्न था ।

चार बजे का समय हो गया । सेठजी आकर अपने दीवानखाने में बैठ गये । दरवान ने अन्दर आकर नमस्कार किया और अजनबी दिव्य-पुरुष की दी हुई चिट्ठी उनके हाथ में सौंप दी । पत्र के अक्षर मोती जैसे स्वच्छ और सुन्दर थे । पत्र काफी लम्बा था, परन्तु ऐसा लग रहा था मानो अक्षर स्वर्णमयी आभा से पुलकित हैं । नीचे लिखने-वाले के हस्ताक्षर थे; जिन्हें पढ़कर मोहन बाबू एकदम स्तम्भित-से रह गये । दरवान को बुलाकर उससे पूछने लगे, "अरे तुमने जगाया क्यों नहीं? वह मूर्ति कहाँ गयी?" दरवान ने सिर झुकाए उत्तर दिया, "मालिक यह पत्र मेरे हाथ में देकर वह साधु-मूर्ति कुछ ही दूर जाकर आँखों से ओझल हो गई; केवल उनके शरीर में से निकली दिव्य-ज्योति ही मैंने आकाश की ओर बढ़ती हुई देखी ।"

मोहन बाबू किंकर्तव्यविमूढ़ से रह गये और उस पत्र को तन्मयता से पढ़ने लगे ।

पत्र

मेरे प्यारे मोहन,

तुम्हारी कीर्ति काफी दिनों से सुन रहा था, जिसे सुनकर हमें बहुत ही प्रसन्नता होती थी । मोहन, तुम तो

हमें भूल-से गये हो और जो आत्मीय सम्बन्ध हमसे जोड़े हुए थे, वे तुम्हें याद ही नहीं रहे, किन्तु मैं भला तुम्हें कैसे भुलूँ? मेरे आँगन में तुम खेले-कूदे, बाल्यकाल के सुखद क्षण बिताए और मेरी मुट्ठी में एक रुपया था। सुखद स्मृतियाँ अभी भी मेरे हृदय-पटल पर अंकित हैं। मैंने सोचा कन्हैया भूल गया तो क्या? मैं स्वयं ही जाकर उससे क्यों न मिलूँ? अतः आज आ ही गया, पर तुमसे मिलना नहीं हो पाया। अतः अपने हृदय की बात इस पत्र में लिखकर जा रहा हूँ।

मोहन, तुम्हारे जन्मगाँव की हालत दयनीय है। जिस पाठशाला में तुम पढ़ते थे, उसकी दीवारें जीर्ण हो गयी हैं और उनकी दुरुस्ती होना जरूरी है। छात्रों की संख्या भी बढ़ गयी है, अतः उस पाठशाला की इमारत का विस्तार होना भी आवश्यक है। बाल्यकाल में तुम जिस मन्दिर में हनुमान जी की उपासना किया करते थे, उसकी छत टूट गयी है और बरसात के जल से उसका अभिषेक हो रहा है, अतः उस पर भी नूतन छत डालना जरुरी है। जिस व्यायामशाला में तुम व्यायाम करते थे, वह केवल खुली जगह-सी रह गयी है; उसकी मरम्मत होनी भी आवश्यक है। प्रातः उठकर तुम अपनी माँ के साथ जिस कुएँ पर पानी लेने जाया करते थे, उसके पानी की सतह नीचे चली गयी है; अतः उसकी खुदाई या उसमें आधुनिक बोरयंत्र लगाना आवश्यक है। उस कुएँ में पानी न रहने के कारण ग्रामवासियों को बहुत दूर से पानी लाना पड़ता है और गर्मियों में लोगों तथा जानवरों के हाल बेहाल हो जाते हैं। जो छोटा-सा औषधालय गाँव में था, उसमें वैद्य नहीं होने का कारण वह बन्द हो गया है। अब रोगियों को दूरस्थित बाहर के शहरों में जाकर दवाइयाँ लेनी पड़ती है, जो बड़ी खर्चीली होती हैं।

गाँव में शौचालय की सुविधा नहीं है और माता-बहनों को प्रातःकृत्य के लिये सुबह उठकर सड़कों के किनारे बैठना पड़ता है, जो बहुत ही लज्जास्पद है।

गाँव के रास्ते भी खराब हो गये हैं। इनमें बीच बीच में गढ्ढे बन गये हैं। गौशाला की गायें पर्याप्त चारे-पानी के अभाव में आधे पेट रहती है और अपने नेत्रों से आँसू बहाती रहती हैं। शायद तुम्हें मालूम हो कि यह गौशाला तुम्हारे पुरखों की बनाई हुई है। स्कूल के पास का खेलने का मैदान कँटीले पौधों से आच्छादित है और बालकों को खेलने के लिए कोई दूसरी जगह भी नहीं है।

'मोती तालाब' जो अपने गाँव की शोभा था, जो गाँव के लिए वरदान था और जिसमें बाल्यकाल में तुम नहाया करते थे; वह सदैव भरा रहता था और इसके आसपास के वृक्षों पर बैठे एवं तालाब में विहार करते कई प्रकार के प्राणी तथा पक्षी प्रातःकाल अपने मधुर कलरव से सूर्योदय का स्वागत करते थे। सन्ध्या के समय ये ही पक्षी अपनी चहचहाट से एक अलग ही प्रफुल्लित वातावरण का निर्माण करते थे, किन्तु अब पूरे तालाब में रेत भर गई है और वह सूखा पड़ा है। बरसात के दिनों में पास की पहाड़ियों से बहकर जो पानी आया करता था, वह मार्ग टूट गया है। यदि तालाब में भरी मिट्टी उठाकर खेतों में डाल दी जाय, तो निश्चित रूप से खेतों की उपज बढ़ेगी और तालाब की गहराई बढ़ने के कारण पूरे साल पानी भी भरा रहेगा। अतः यदि पहाड़ी से तालाब तक पानी लाने का रास्ता ठीक कर दिया जाय और तालाब की गहराई बढ़ा दी जाय, तो उसे फिर से अपना पुराना वैभव प्राप्त हो सकेगा और ग्रामवासियों तथा पशुओं के लिए पानी की समस्या भी दूर हो सकती है।

प्यारे मोहन, मैं किस-किस बात का वर्णन करूँ? मोहन, शहरों में तुम लोग आज २१वीं सदी का रसास्वादन कर रहे हो, किन्तु तुम्हारा गाँव आज भी पुराने जीर्ण-शीर्ण हालत में ही जी रहा है उसकी ओर ध्यान देने को किसी के पास समय नहीं हैं।

मोहन, मैंने सहज भाव से सच्ची वस्तुस्थिति का वर्णन किया है, किन्तु यह तुमसे किसी अपेक्षा की भावना से नहीं है। मेरी एक ही अभिलाषा है कि तुम बीच बीच में समय निकालकर अपने जन्मगाँव, अपनी मातृभूमि में आया करो। तुम्हें देखकर हमें प्रसन्नता होगी और आत्मिक सन्तोष होगा। मैं काफी कृश हो गया हूँ। शायद तुम पहचान भी नहीं पाओगे, किन्तु तुम आओ मेरे लाल, तुम्हें देखकर मुझमें नवजीवन का संचार होगा। मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी। हम तुमसे मिलने आये थे, क्योंकि कई दिनों से ऐसी तीव्र भावना हो रही थी। लिखते समय हृदय की वेदना अनायास ही पत्र में प्रकट हो गई, किन्तु ये सभी बातें भूल जाना। तुम्हें चिन्ता में डालना हमारा हेतु नहीं है; केवल एक ही आग्रह है कि कभी कभी समय निकालकर अपने जन्मगाँव में आया करो। उसे भूलो मत केवल इसी अपेक्षा के साथ –

तुम्हारा शुभाकांक्षी,

ग्राम देवता

मोहन बाबू ने इस पत्र को बारम्बार पढ़ा और वे स्तम्भित से रह गये उनके मन में बाल्यकाल की सारी स्मृतियाँ जाग उठीं । वे उन्हीं विचारों में मग्न काफी देर तक अपने कक्ष में स्तब्ध से बैठे रहे । उनकी यह दशा देखकर उनकी धर्मपत्नी असमंजस में पड़ गईं और उन्हें पूछ बैठी, "लल्ला के पिताजी, आप आज ऐसे गुमशुम क्यों बैठे हैं? क्या बात है?" पत्नी के इस प्रश्न से वे कुछ में होश आये और उससे बोले, "लल्ला की माँ, जिस मिट्टी में मैं पैदा हुआ और जहाँ मेरे बाल्यकाल के सुखद क्षण व्यतीत हुए, उसका ऋण चुकाना मैं भूल ही गया था । अतः उससे यथाशक्ति मुक्त होने के लिए मेरा अपने जन्म-गाँव जाना जरूरी है । यदि तुम्हें भी साथ आना हो, तो आ सकती हो । वहाँ के निवासियों के सहयोग से मैं वहाँ की जरूरतों को पूरा करने का सच्चा प्रयास करूँगा । एक ऐसा संगठन खड़ा करूँगा, जो निरन्तर यह काम करता रहे । मैं स्वतः पहले आर्थिक सहायता दूँगा । श्रमदान द्वारा भी जो सम्भव हुआ, उन कार्यों को कराने का प्रयत्न करूँगा ।"

दूसरे दिन जरूरी कामों की जानकारी अपने बड़े पुत्र को देकर वे उससे बोले, "आज कुछ धनराशि लेकर हम अपने जन्म-गाँव को जा रहे हैं । सम्भवतः वहाँ हमें कुछ दिन ठहरना पड़े । यदि अधिक धन की जरूरत पड़ी, तो हम तुम्हें लिख देंगे ।" अपने व्यवसाय तथा कारोबार की बातें अपने बड़े पुत्र को समझाकर उन्होंने उसी रात अपने गाँव की ओर प्रस्थान किया ।

नियत समय पर रेलगाड़ी उनके गाँव के स्टेशन पर जा पहुँची । वे अपना सामान उतारकर प्लेटफॉर्म के बाहर आये । फटे-पुराने कपड़े पहने हुए एक ताँगेवाला लड़का जोर जोर से चिल्ला रहा था – "हर सवारी तीन रुपये"। मोहन बाबू उसकी ओर जाकर अपना सामान ताँगे में रखने लगे । उस अबोध बालक ने पूछा, "बाबूजी, आपको किस मुहल्ले में जाना है?" मोहन बाबू ने कहा, "हमें सीकरियों के मुहल्ले की बड़ी हवेली में जाना है ।" यह सुनकर वह ताँगेवाला लड़का बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला, "बाबूजी, मैं भी उसी मुहल्ले में रहता हूँ । मैं रघुनाथ जी माली का लड़का हूँ, जिनका पिछले वर्ष ही स्वर्गवास हो गया है । मेरे बापूजी और दादी-माँ मुझसे कहा करती थीं कि जहाँ हम रहते हैं, वह जगह आपके पुरखों ने हमें मुफ्त में दी थी । अतः उस हवेलीवालों से कभी भी ताँगे का किराया मत लेना । बाबूजी, हम गरीब हैं, पर किसी का ऋण नहीं भूलते ।" उस छोटे अबोध बालक की बातें मोहन बाबू सुनते ही रह गये । ताँगा अपनी रफ्तार से चलता रहा और मोहन बाबू अपने गाँव का परिवेश देखने में मग्न थे । कुछ ही समय में ताँगा उनकी हवेली के सामने जा खड़ा हुआ । ताँगेवाले ने उनका सामान उठाकर हवेली में रख दिया । मोहन बाबू उसे कुछ देना चाहते थे, परन्तु ताँगेवाले ने लेने से इन्कार कर दिया और हाथ जोड़कर विनम्रतापूर्वक बोला, "बाबूजी, मुझे माफ करें । अपनी पिताजी की बतायी हुई परम्परा हम नहीं तोड़ेंगे । एक विनती और है – जब कभी आप वापस जाने की योजना बनायें, तो मुझे इत्तला कर देना । मैं आपको स्टेशन पहुँचा दूँगा । आपके पुरखों का जो हमारे ऊपर पहाड़ सरीखा ऋण है, उससे हमें थोड़ा तो उऋण होने दीजिए । इससे हमें और हमारे पूर्वजों की आत्मा को शान्ति मिलेगी ।" वह बालक अपने व्यवहार से यह बताकर चला गया कि सामान्य सदाचारी मानव भी अपने पर किये हुए एहसान के ऋण को नहीं भूलता; फिर जन्मदात्री माता तथा जन्मभूमि के ऋण से उऋण होना तो मानव का प्रथम कर्तव्य होता है; उसे कैसे भूला जाय ।

सच है – **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।**

(समन्वय-साधना-पथ से साभार)
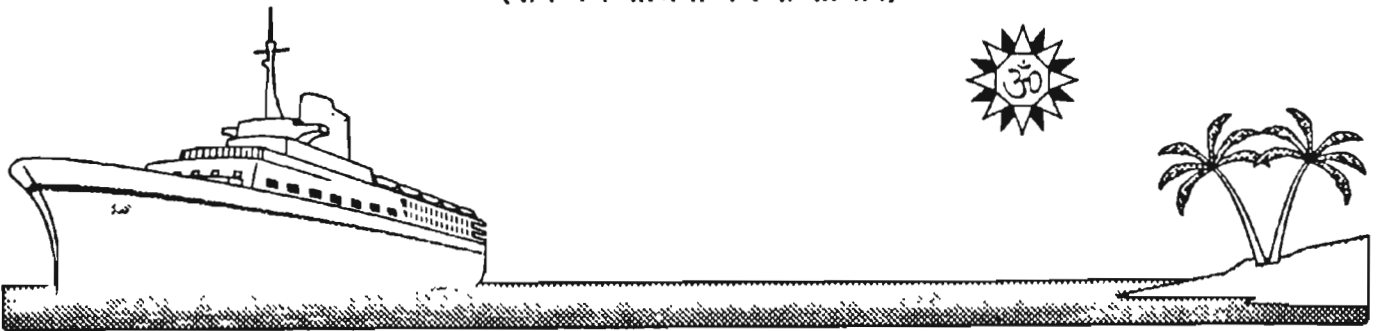
स्वयं पर विश्वास

स्वामी सत्यरूपानन्द

माता सीता की खोज में बंदर दक्षिण समुद्र तट पर पहुँचे। वहाँ सपाति ने उन्हें बताया कि माता सीता लंका में रावण के यहाँ बन्दिनी हैं। अब प्रश्न आया कि कौन समुद्र लाँघ कर माता सीता का समाचार ला सकता है? सभी बड़े बड़े वीर नल, नील, अंगद आदि अपनी अपनी शक्तियों का आकलन करने लगे किन्तु किसी भी वीर में यह शक्ति नहीं थी कि वह समुद्र लाँघ कर लंका जाय और माता सीता का समाचार लेकर लौटे।

जामवन्त यह सब देख रहे थे। उन्होंने देखा कि महावीर हनुमान कहीं नहीं दीख रहे हैं। उठ कर उन्होंने इधर उधर देखा कि हनुमानजी एक ओर चुपचाप बैठे हैं। जामवन्त उनके पास गये और पूछा – हनुमान, तुम यहाँ चुपचाप क्यों बैठे हो?

हनुमानजी ने उत्तर दिया कि मैं यहाँ चुपचाप इसलिये बैठा हूँ कि हमारी सेना का कोई भी वीर समुद्र लाँघ कर माता सीता का समाचार लाने में समर्थ नहीं है।

जामवन्त ने कहा - हनुमान, भला तुम्हारे रहते इसकी चिंता क्या है? और ऐसा कह कर जामवन्त ने हनुमानजी को उनकी शक्ति और वीरता का स्मरण दिलाया तथा यह बताया कि बचपने में ही उन्होंने कितने महान् और अद्‌भुत पराक्रम किये थे। उसे सुन कर हनुमानजी का आत्म-विश्वास जाग उठा। उसके बाद की उनके महापराक्रम की कहानी से हम सभी परिचित हैं।

अपने आप पर विश्वास। अपनी शक्तियों और योग्यताओं पर विश्वास। अपनी विजय और सफलता पर विश्वास। यही रहस्य है जीवन की सफलता का।

प्रत्येक मनुष्य के भीतर आत्मा की अनंत शक्ति भरी हुई हैं। आत्मा की शक्ति से मनुष्य सब कुछ करने में समर्थ हो सकता है। किंतु अपनी शक्ति पर विश्वास न होने के कारण, अपने आप पर विश्वास न होने के कारण उसके भीतर की यह महान् शक्ति सोई हुई ही रह जाती है। महान् शक्तिधर होकर भी मनुष्य दीन हीन दुर्बल बना रह जाता है। अपने जीवन की उन्नति और विकास नहीं कर पाता। जीवन में असफल रह जाता है और यह सब होता है अपने आप पर विश्वास न रहने के कारण।

आज अभी इसी क्षण से अपने आप पर विश्वास करना प्रारंभ कर दीजिये। ईश्वर ने सभी को कुछ न कुछ योग्यताएँ दी हैं। अपने गुणों को अपनी क्षमताओं को पहिचानिये यह स्मरण कीजिये कि आज से पूर्व आपने अपने जीवन में कुछ उपलब्धियाँ अवश्य प्राप्त की हैं। सफल हुए हैं। यह सब कैसे हुआ? आपकी अपनी शक्ति से आपकी अपनी योग्यता से।

अत अपने आपको दीन हीन दुर्बल मत समझिये। आपके भीतर आत्मा की परमात्मा की शक्ति छिपी हुई है। उस शक्ति पर विश्वास कीजिये। अपने आप पर विश्वास कीजिए। फिर देखिये कि कैसे आपके भीतर छिपी हुई आत्मा की, परमात्मा की शक्ति जाग रही है। आपके मार्ग की बाधाएँ अपने आप दूर होती जा रही हैं। सफलता के साधन जुटते जा रहे हैं। आपकी क्षमताएँ और योग्यताएँ बढ़ती जा रही हैं।

आत्मविश्वासी व्यक्ति की सहायता देवता भी करते हैं। लोग उसका सम्मान करते हैं। उससे सहयोग करते हैं। किन्तु इसके लिये शर्त यह है कि व्यक्ति अपने आप पर विश्वास करे। दृढ़ विश्वास करे और पराक्रमपूर्वक कार्य में लग जाय।

आत्मविश्वासी व्यक्ति तूफान में भी, समुद्री चट्टानों के बीच भी अपनी नाव को किनारे लगा लेता है जबकि आत्मविश्वास हीन व्यक्ति घुटने भर जल में भी डूब मरता है।

जो स्वयं पर विश्वास नहीं करता, उसकी सहायता भगवान भी नहीं करते। अतः अपने आप पर विश्वास कीजिये। आत्मविश्वासी बनिये। सफलता भी आत्म-विश्वासी के चरण चूमती है।

❖ ❖ ❖
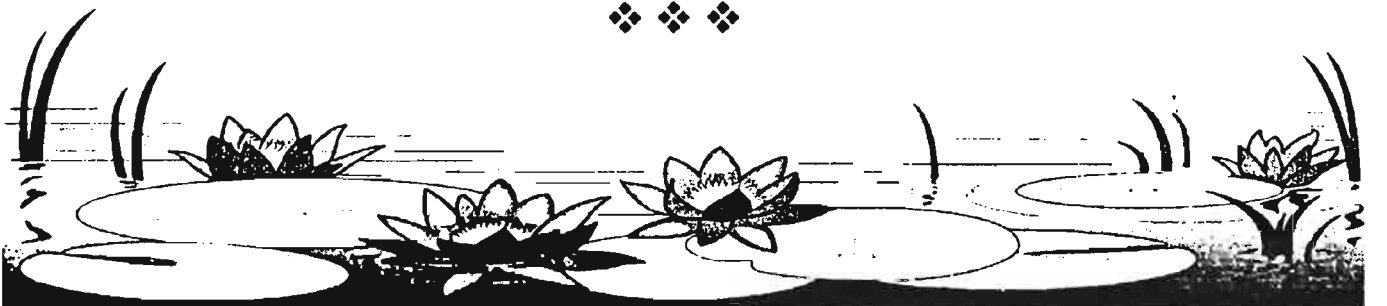
केनोपनिषद् (९)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(सनातन वैदिक धर्म के ज्ञानकाण्ड को उपनिषद् कहते हैं। सहस्रों वर्ष पूर्व भारत में जीव-जगत् तथा अन्य गम्भीर विषयों पर प्रश्न उठाकर उनकी जो मीमांसा की गयी थी, इनमें उन्हीं का संकलन है। श्री शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना हेतु इन पर सरस भाष्य लिखकर अपने सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। उनमें से ईशोपनिषद् के बाद अब हम केनोपनिषद् पर शांकर भाष्य का सरल हिन्दी अनुवाद क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं। यहाँ पर भाष्य की अधिकांश कठिन सन्धियों को खोलकर सरल रूप देने का प्रयास किया है और उसमें आये मूल श्लोक के शब्दों को रेखांकित कर दिया है, ताकि नव-शिक्षार्थियों को समझने में सुविधा हो सके। – सं.)

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि
किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥३॥ (१६)

अन्वयार्थ – **ते** उन लोगों ने **अग्निम्** अग्नि को **अब्रुवन्** कहा – **जातवेद** हे अग्नि **किम् एतत् यक्षम्** यह पूज्यमूर्ति कौन है – **एतत्** इसे **विजानीहि** पता लगाओ **इति**। (अग्नि ने कहा –) **तथा इति** ऐसा ही होगा ॥

भावार्थ – उन लोगों ने अग्नि से कहा – हे जातवेद, तुम सामने स्थित (खड़े) यक्ष के बारे में पता लगा कर आओ कि ये कौन है। अग्नि बोले – ठीक है।

भाष्य – ते तद् अजानन्तो देवाः स-अन्तर्भयाः तद्-विजिज्ञासवः अग्निम् अग्रगामिनं जातवेदसं सर्वज्ञकल्पम् अब्रुवन् उक्तवन्तः। हे जातवेदः एतद् अस्मद्-गोचरस्थं यक्षं विजानीहि विशेषतो बुध्यस्व त्वं नः तेजस्वी किम् एतद् यक्षम् इति। तथा अस्तु इति ॥३॥

उन (यक्ष) को न जानते हुए देवताओं ने भयपूर्ण हृदय के साथ उसे जानने की उत्सुकता से अग्रगामी, जन्म से ही ज्ञानी अर्थात् सर्वज्ञतुल्य अग्नि से कहा – हे जातवेद, हम लोगों में तुम्हीं (सबसे) तेजस्वी हो, (अतः) यह भलीभाँति पता लगाकर आओ कि हमारे सामने स्थित यह यक्ष कौन है। अग्नि बोले – ऐसा ही हो ॥३॥

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीत्यग्निर्वा अहम-
स्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥४॥(१७)

अन्वयार्थ – (अग्नि) **तद्** उस (यक्ष) की ओर **अभ्यद्रवत्** तेजी से गये। (यक्ष ने) **तम्** उनसे **अभ्यवदत्** पूछा – **कः** कौन **असि** हो (तुम)? **इति**। (अग्नि) **अब्रवीत्** बोले – **अहम्** मैं **वै अग्निः** ही प्रसिद्ध अग्नि **अस्मि** हूँ; **इति** (और) **अहं** मैं **वै** ही **जातवेदा** जातवेदा **अस्मि** हूँ, **इति**।

भावार्थ – अग्नि तेजी से उस यक्ष के पास गये। यक्ष ने उनसे पूछा – तुम कौन हो? अग्नि ने कहा – मैं ही प्रसिद्ध अग्नि हूँ और मैं ही जातवेदा अर्थात् जन्म से ही ज्ञानी हूँ।

भाष्य – तद् यक्षम् अभि-अद्रवत् तत्प्रति गतवान् अग्निः। तं च गतवन्तं पिपृच्छिषुं तत् समीपे अप्रगल्भत्वात् तूष्णींभूतं तत् यक्षम् अभ्यवदत् अग्निं प्रति अभाषत – को असि इति। एवं ब्रह्मणा पृष्टो अग्निः अब्रवीत् – अग्निः वै अग्निनामा अहं प्रसिद्धो जातवेदा इति च नामद्वयेन प्रसिद्धतया आत्मानं श्लाघयन् इति ॥४॥

वे यक्ष की ओर गये। पूछने की इच्छा से उनके पास जाकर सहमकर मौन हुए अग्नि को उन यक्ष ने कहा – तुम कौन हो? इस प्रकार ब्रह्म के द्वारा पूछे जाने पर अग्नि अपनी दो नामों से प्रसिद्धि बताकर आत्मप्रशंसा करते हुए बोले – मैं अग्नि नामवाला प्रसिद्ध जातवेदा हूँ ॥४॥

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदꣳ सर्वं
दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥५॥ (१८)

अन्वयार्थ – (यक्ष –) **तस्मिन् त्वयि** ऐसे प्रसिद्ध नामवाले तुममें **किम्** क्या **वीर्यम्** सामर्थ्य है? **इति**। (अग्नि ने कहा) **पृथिव्याम्** धरती पर **यत् इदम्** यह जो कुछ भी है **इदम्** इस **सर्वम् अपि** सबको भी (मैं) **दहेयम्** जला सकता हूँ। इति ॥

भावार्थ – यक्ष ने पूछा – तुम जैसे प्रसिद्ध नाम-गुणवाले में क्या क्षमता है? अग्नि ने उत्तर दिया – इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, वह सब मैं जला सकता हूँ।

भाष्य – एवम् उक्तवन्तं ब्रह्म अवोचत् तस्मिन् एवं प्रसिद्ध-गुण-नामवति त्वयि किं वीर्यं सामर्थ्यम् इति। सो अब्रवीद् इदं जगत् सर्वं दहेयं भस्मीकुर्यां यद् इदं स्थावरादि पृथिव्याम् इति उपलक्षणार्थम्, यतो अन्तरिक्षस्थम् अपि दह्यते एव अग्निना ॥५॥

ऐसा कहनेवाले (अग्नि) को ब्रह्म ने कहा – तस्मिन् अर्थात् ऐसे प्रसिद्ध नाम-गुणवाले तुममें क्या सामर्थ्य है? उस (अग्नि) ने कहा – स्थावर-जंगम (चर-अचर) रूप इस सम्पूर्ण जगत् को मैं जलाकर भस्म कर सकता हूँ। पृथ्वी के उपलक्षण से यहाँ तात्पर्य है कि अन्तरिक्ष में भी जो कुछ है, अग्नि उन सबको जला सकते हैं ॥५॥

तस्मै तृणं निदधावेतद् दहेति तदुपप्रेयाय
सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स तत एव निववृत्ते
नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति॥६॥ (१९)

अन्वयार्थ – (यक्ष ने) **तस्मै** उस (अग्नि) के सामने **तृणम्** एक तिनका **निदधौ** रख दिया (और कहा –) **एतत्** इसको **दह** जलाओ **इति** । (अग्नि) **सर्वजवेन** पूरे वेग के साथ **तत् उपप्रेयाय** उस (तिनके) के पास गये, (परन्तु) **तत्** उसे **दग्धुं** जलाने में **न शशाक** समर्थ नही हुए । **सः** वे **ततः** वहाँ (यक्ष के पास) से **एव** ही **निववृते** लौट आये (और बोले) **यत्** जो (कौन) **एतत्** यह **यक्षम्** पूज्यमूर्ति; **एतत्** यह (मैं) **न विज्ञातुं अशकम्** नहीं जान सका **इति** ।

भावार्थ – यक्ष ने उन (अग्नि) के समक्ष एक तिनका रखकर कहा – इसे जलाओ । अग्नि पूरे जोश के साथ उस तिनके के पास गये, (परन्तु) वे उसे जला नहीं सके । वे यक्ष के पास से लौट आये और (देवताओं से) बोले – मैं समझ नही सका कि यह यक्ष कौन है ।

भाष्य – तस्मै एवम् अभिमानवते ब्रह्म तृणं निदधौ पुरो अग्नेः स्थापितवत् । ब्रह्मणा 'एतत् तृणमात्रं मम अग्रतः दह, न चेद् असि दग्धुं समर्थः, मुञ्च दग्धृत्व-अभिमानं सर्वत्र' इति उक्तः तत् तृणम् उपप्रेयाय तृणसमीपं गतवान् सर्वजवेन सर्व-उत्साह-कृतेन वेगेन । गत्वा तत् न शशाक न अशकद् दग्धुम् ।

इस प्रकार अभिमान करनेवाले उन (अग्नि) के समक्ष ब्रह्म ने एक तिनका रख दिया । "केवल इस तिनके को मेरे सामने जला दो, यदि नहीं जला सकते, तो सर्वत्र जलाने का (अपना) अभिमान छोड़ दो" – ब्रह्म के द्वारा ऐसा कहे जाने पर वे उस तिनके के पास गये और पूरे उत्साहजनित वेग के साथ जाकर भी उसे जला नहीं सके ।

सः जातवेदाः तृणं दग्धुम् अशक्तो व्रीडितो हतप्रतिज्ञः तत एव यक्षाद् एव तूष्णीं देवान् प्रति निववृते निवृत्तः प्रतिगतवान् न एतत् यक्षम् अशकं शक्तवान् अहं विज्ञातुं विशेषतः यद् एतद् यक्षम् इति ।।६।।

वे (अग्नि) तिनके को जलाने में असमर्थ होकर तथा अपनी प्रतिज्ञा भंग हो जाने से लज्जित होकर यक्ष के पास से चुपचाप देवताओं की ओर लौट आये । (और कहा –) इस यक्ष को मैं भलीभाँति जान नहीं सका कि यह पूज्यमूर्ति कौन है ।।६।।

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद्विजानीहि
किमेतद्यक्षमिति तथेति ।।७।। (२०)

अन्वय – **अथ** इसके बाद (देवताओं ने) **वायुम्** वायु को **अब्रुवन्** कहा – **वायो** हे वायु **किम् एतत् यक्षम्** यह पूज्यमूर्ति कौन है – **एतत्** इसे **विजानीहि** पता लगाओ **इति** । (वायु ने कहा –) **तथा इति** ऐसा ही होगा ।।

भावार्थ – इसके उपरान्त उन लोगों ने वायु से कहा – हे वायु, तुम सामने स्थित (खड़े) यक्ष के बारे में पता लगा कर आओ कि ये कौन है । वायु बोले – ठीक है ।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत्
कोऽसीति वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्-
मातरीश्वा वा अहमस्मीति ।।८।। (२१)

अन्वयार्थ – (वायु) **तद्** उस (यक्ष) की ओर **अभ्यद्रवत्** तेजी से गये । (यक्ष ने) **तम्** उनको **अभ्यवदत्** पूछा – **कः** कौन **असि** हो (तुम)? **इति** । (वायु) **अब्रवीत्** बोले – **अहम्** मैं **वै वायुः** ही प्रसिद्ध वायु **अस्मि** हूँ; **इति** (और) **अहं** मैं **वै** ही **मातरिश्वा** मातरिश्वा **अस्मि** हूँ, **इति** ।

भावार्थ – (वायु) तेजी से उस यक्ष के पास गये । यक्ष ने उनसे पूछा – तुम कौन हो? वायु ने कहा – मैं ही प्रसिद्ध वायु हूँ और मैं ही मातरिश्वा अर्थात् पूरे अन्तरिक्ष में घूमनेवाला हूँ ।

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदः
सर्वमाददीयं यदिदं पृथिव्यामिति ।।९।। (२२)

अन्वयार्थ – (**यक्ष ने पूछा**) **तस्मिन् त्वयि** ऐसे प्रसिद्ध नामवाले तुममें **किम्** क्या **वीर्यम्** सामर्थ्य है? **इति** । (अग्नि बोले) **पृथिव्याम्** धरती पर **यत् इदम्** यह जो कुछ है **इदम्** यह **सर्वम् अपि** सबको भी **आददीयम्** उड़ा सकता हूँ। **इति**।।

भावार्थ – यक्ष ने पूछा – तुम जैसे प्रसिद्ध नाम-गुणवाले में क्या क्षमता है? वायु ने उत्तर दिया – इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, वह सब मैं उड़ा सकता हूँ ।

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति
तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं
स तत एव निववृते नैतदशकं
विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ।।१०।। (२३)

अन्वयार्थ – (यक्ष ने) **तस्मै** उस (वायु) के सामने **तृणम्** एक तिनका **निदधौ** रख दिया (और कहा –) **एतत्** इसको **आदत्स्व** उड़ाओ **इति** । (वायु) **सर्वजवेन** पूरे वेग के साथ **तत् उपप्रेयाय** उस (तिनके) के पास गये, (परन्तु) **तत्** उसे **आदातुम्** उड़ाने में **न शशाक** समर्थ नही हुए । **सः** वे **ततः** वहाँ (यक्ष के पास) से **एव** ही **निववृते** लौट आये (और बोले –) **यत्** जो (कौन) **एतत्** यह **यक्षम्** पूज्यमूर्ति; **एतत्** यह (मैं) **न विज्ञातुं अशकम्** नही जान सका **इति** ।

भावार्थ – यक्ष ने उन (वायु) के समक्ष एक तिनका रखकर कहा – इसे उड़ाओ । वायु पूरे उत्साह के साथ उस तिनके के पास गये, (परन्तु) वे उसे उड़ा नहीं सके । वे यक्ष के पास से लौट आये और (देवताओं से) बोले – मैं समझ नहीं सका कि यह यक्ष कौन है ।

भाष्य – अथ अनन्तरं वायुम् अब्रुवन् हे वायो एतद्

विजानीहि इत्यादि समानार्थं पूर्वेण । वानात् गमनात् गन्धनात् वा वायुः । मातरि अन्तरिक्षे श्वयति इति मातरिश्वा । इदं सर्वम् अपि आददीय गृह्णीयाम् यद् इदं पृथिव्याम् इत्यादि समानम् एव ।।

इसके बाद (वे लोग) वायु से बोले – हे वायु, जरा पता लगाकर आओ ... आदि का अर्थ पहले के समान होगा । प्रवाहित होने, चलने अथवा गन्ध को वहन करने के कारण वह वायु कहलाता है । 'मातरि' अर्थात् अन्तरिक्ष में जो घूमता है उसे मातरिश्वा कहते है । (वायु ने कहा –) इस पृथ्वी पर जो कुछ भी है, उन सबको मैं ग्रहण कर सकता हूँ अर्थात् उड़ाने में समर्थ हूँ । ... आदि पहले के ही समान है ।।१०।।

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद्
विजानीहि किमेतद्यक्षमिति । तथेति
तदभ्यद्रवत्तस्मात्तिरोदधे ।।११।। (२४)

अन्वयार्थ – **अथ** इसके बाद (देवताओं ने) **इन्द्रम्** इन्द्र से **अब्रुवन्** कहा – **मघवन्** हे मघवा **किम् एतत् यक्षम्** यह पूज्यमूर्ति कौन है – **एतत्** इसे **विजानीहि** पता लगाओ **इति** । (इन्द्र ने कहा –) **तथा इति** ऐसा ही होगा । (इन्द्र) **तद्** उस (यक्ष) की ओर **अभ्यद्रवत्** तेजी से गये, (परन्तु यक्ष) **तस्मात्** उनके सामने से **तिरोदधे** अन्तर्धान हो गये ।।

भावार्थ – इसके उपरान्त उन लोगों ने इन्द्र से कहा – हे मघवा, तुम सामने स्थित (खड़े) यक्ष के बारे में पता लगा कर आओ कि ये कौन है । इन्द्र बोले – ठीक है । वे उस यक्ष की ओर तेजी से गये, (परन्तु यक्ष) उनके सामने से अन्तर्धान हो गये ।।

भाष्य – अथ इन्द्रम् अब्रुवन् मघवन् एतद् विजानीहि इत्यादि पूर्ववत् । इन्द्रः परमेश्वरो मघवा बलवत्त्वात् तथा इति तद् अभ्यद्रवत् । तस्मात् इन्द्राद् आत्मसमीपं गतात् तद् ब्रह्म तिरोदधे तिरोभूतम् । इन्द्रस्य इन्द्रत्व अभिमानो अतितरां निकर्तव्य इति अतः संवादमात्रम् अपि न आदाद् ब्रह्म इन्द्राय ।।११।।

इसके बाद उन लोगों ने इन्द्र से कहा – हे इन्द्र, यह पता लगाकर आओ ... आदि पहले के समान ही है । परम समर्थ होने के कारण वे इन्द्र हैं और बलवान होने के कारण उन्हें मघवा कहते हैं । 'ऐसा ही होगा' – कहकर वे उन (यक्ष) के पास गये । अपने पास आये उन इन्द्र के सामने से ब्रह्म अन्तर्धान हो गये । इन्द्र के इन्द्रत्व का अभिमान पूरी तौर से दूर करने हेतु ब्रह्म ने उन्हें (अपने साथ) बात करने का अवसर तक नहीं दिया ।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम
बहु शोभमानामुमां हैमवतीम् ।
ताः होवाच किमेतद्यक्षमिति ।।१२।। (२५)

अन्वयार्थ – **तस्मिन् एव** उसी **आकाशे** स्थान पर **सः** वे (इन्द्र) (प्रकट हुई) **बहुशोभमानाम्** अत्यन्त सुन्दर **स्त्रियम्** स्त्री **हैमवतीम्** स्वर्णालंकार से भूषित अथवा हिमालय की पुत्री **उमाम्** उमा **आजगाम** के पास जा पहुँचे । (इन्द्र ने) **ताम् ह** उन्हीं से **उवाच** पूछा – **एतत्** ये **यक्षम्** पूज्यमूर्ति **किम्** कौन (थे)? **इति** ।।

भावार्थ – वे (इन्द्र) उसी स्थान पर स्वर्णालंकार से भूषित एक अत्यन्त सुन्दर स्त्री के रूप में प्रकट हुईं उमा के पास गये और उनसे पूछा – ये यक्ष कौन थे?

भाष्य – तद्-यक्षं यस्मिन् आकाशे अवकाश-प्रदेशे आत्मानं दर्शयित्वा तिरोभूतम् इन्द्रश्च ब्रह्मणः तिरोधानकाले यस्मिन् आकाशे आसीत्, स इन्द्रः तस्मिन् एव आकाशे तस्थौ किं तद्-यक्षम् इति ध्यायन्, न निववृते अग्नि-आदिवत् ।

वे यक्ष जिस आकाश अर्थात् स्थान पर स्वयं को दिखाकर अन्तर्धान हो गये थे और ब्रह्म के अन्तर्धान होते समय इन्द्र जहाँ पर खड़े थे; वे उसी स्थान पर यह विचार करते हुए खड़े रहे कि यह यक्ष कौन था, अग्नि आदि के समान लौटे नहीं ।

तस्य इन्द्रस्य यक्षे भक्तिं बुद्ध्वा विद्या उमा-रूपिणी प्रादुरभूत स्त्रीरूपा । स इन्द्रः ताम् उमां बहुशोभमानाम् – सर्वेषां हि शोभमानानां शोभनतमा विद्या, तदा बहुशोभमाना इति विशेषणम् उपपन्नं भवति; हैमवतीं हेमकृत-आभरण-वतीम् इव बहुशोभमानाम् इत्यर्थः। अथवा उमैव हिमवतो दुहिता हैमवती नित्यम् एव सर्वज्ञेण ईश्वरेण सह वर्तते इति ज्ञातुं समर्थ-इति कृत्वा ताम् – उपजगाम इन्द्रः तां ह उमां किल उवाच पप्रच्छ – ब्रूहि किम्-एतत्-दर्शयित्वा तिरोभूतं यक्षम् इति ।।

उन इन्द्र का यक्ष के प्रति श्रद्धा को जानकर, उमारूपिणी ब्रह्मविद्या वहाँ एक नारी के रूप में प्रकट हुईं । वे इन्द्र उन उमा के पास गये, जो अत्यन्त सुन्दर थीं – समस्त सुन्दर वस्तुओं में विद्या ही सर्वाधिक सुन्दर है, अतः उसके साथ अत्यन्त सुन्दर का यह विशेषण उपयुक्त ही है; जो हैमवती थीं अर्थात् स्वर्णनिर्मित आभूषणों को धारण किये हुए के समान परम सुन्दर थीं अथवा उमा हिमालय की पुत्री हैं, अतः हैमवती उनका नाम ही है । वे सर्वज्ञ ईश्वर के साथ रहती हैं, अतः जानने में समर्थ होंगी – ऐसा सोचकर इन्द्र ने उन्हीं से कहा अर्थात् पूछा – बताइये, दर्शन देने के बाद अन्तर्धान हो जानेवाले ये यक्ष कौन थे? ।।१२।।

❖(क्रमशः)❖

दिल्ली में पुस्तक-विक्रय-केन्द्र

पिछले १२ मार्च को केन्द्रीय रेलमंत्री सुश्री ममता बॅनर्जी ने नई दिल्ली रेल्वे स्टेशन पर रामकृष्ण मिशन द्वारा प्रारम्भ किये गये एक नये बुकस्टाल का उद्घाटन किया। इसमें मुख्यतः रामकृष्ण मठ तथा मिशन द्वारा प्रकाशित रामकृष्ण-विवेकानन्द और वेदान्त-विषयक साहित्य उपलब्ध होगा।

नारायणपुर आश्रम का कार्य

१४ अप्रैल को राजधानी नई दिल्ली में स्थित राष्ट्रपति-भवन में आयोजित एक सभा में भारत के राष्ट्रपति श्री के. आर. नारायणन् द्वारा मध्यप्रदेश के बस्तर जिले में स्थित नारायणपुर के 'रामकृष्ण मिशन आश्रम' को सन् १९९६ के लिए 'अम्बेडकर राष्ट्रीय पुरस्कार' प्रदान किया गया। यह पुरस्कार आदिवासी-बहुल क्षेत्र में पिछड़ी जातियों के उन्नयन तथा सामाजिक सद्भाव के विस्तार में उल्लेखनीय योगदान के लिए दिया गया, जिसमें एक प्रशस्ति-पत्र के साथ १० लाख रुपयों की राशि दी गयी।

विवेकानन्द पुरस्कार

सघाध्यक्ष श्रीमत् स्वामी रंगनाथानन्द जी महाराज ने विगत २२ अप्रैल को गोलपार्क, कलकत्ता स्थित रामकृष्ण मिशन संस्कृति संस्थान में आयोजित एक सभा में पं. दिनेशचन्द्र भट्टाचार्य तथा डॉ. वी. आर. करन्दीकर को विवेकानन्द पुरस्कार प्रदान किये। पं. दिनेशचन्द्र को यह पुरस्कार सन् १९९९ के लिए 'विवेकानन्द का वेदान्त-चिन्तन' पर उनके बँगला ग्रन्थ के लिए और श्री करन्दीकर को सन् २००० के लिए यह पुरस्कार मराठी भाषा में लिखित उनके 'विश्वमानव स्वामी विवेकानन्द' के लिए प्रदान किया गया। सभा में असख्य श्रोताओं का समागम हुआ था।

राहत-कार्य

पटना में अग्नि से राहत - स्थानीय रामकृष्ण मिशन द्वारा दरभंगा जिला के साहसपुर ग्राम में अग्निकाण्ड से पीड़ित ६२ परिवारों के बीच धोती, साड़ी, बच्चों के कपड़े, पुराने वस्त्र और बाल्टियों तथा स्टील व अल्मुनियम के बर्तनों आदि का वितरण किया गया।

त्रिपुरा में दंगे से राहत - राजधानी अगरतला में स्थित रामकृष्ण मिशन आश्रम द्वारा पश्चिमी त्रिपुरा के माधवबाड़ी, दुर्गा चौधरी पाड़ा आदि पाँच शिविरों के माध्यम से दंगे से प्रभावित १००३ परिवारों के बीच ३०० साड़ियाँ, २५० धोतियाँ, २५० लुंगियाँ, आदिवासी महिलाओं के ३८२ पोशाक, १९५० किलो चावल, १५०० किलो आलू और ५० किलो दूध के पाउडर का वितरण किया गया।

उड़ीसा में तूफान राहत - पुरी रामकृष्ण मिशन के माध्यम से उस जिले के तूफान प्रभावित १२६ विद्यालयों के छात्र-छात्राओं के बीच ९४०९ बालपेन, ९१११९० पेन्सिल, ३०७९० रबर, १५९३८ पेन्सिल बनाने का यत्र, १५८० ज्यामितीय औजार-बक्स, ३१८० कॉपियाँ और १०५८ पुस्तकें वितरित की गयीं।

पुनर्वास-कार्य

मुर्शिदाबाद में भवन-निर्माण - पश्चिमी बंगाल के दक्षिणी चौबीस-परगना जिले में स्थित नरेन्द्रपुर के रामकृष्ण मिशन आश्रम ने मुर्शिदाबाद जिले के आठ गाँवों में बाढ़ से क्षतिग्रस्त लोगों के पुनर्वासन हेतु ७२० मकान, ११०० शौचालय तथा ३१ नलकूपों का निर्माण कराया गया है।

नेत्र-चिकित्सा के लिए शिविर

लिमड़ी (गुजरात) के रामकृष्ण मिशन ने २० अप्रैल को एक नेत्र-चिकित्सा का शिविर लगाया, जिसमें १०३ लोगों के नेत्रों की प्राथमिक चिकित्सा हुई और १८ लोगों पर शल्यक्रिया सम्पन्न हुई।

हुगली जिले में स्थित इछापुर के आश्रम द्वारा २१ से २३ अप्रैल के दौरान चलाये गये नेत्र-चिकित्सा-शिविर में २०० रोगियों की चिकित्सा हुई और १२ लोगों का अस्त्रोपचार किया गया।